वर्ष ४५] * * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जून १९७१

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० विदेशमें १६.००(१८ शिलिंग) } जय विराट जय जगतपते। गौरीपति जय रमापते॥ { साधारण प्रति भारतमें ९० पैसे विदेशमें रु० १.०० (१५ पैंस)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

माँ दुर्गा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
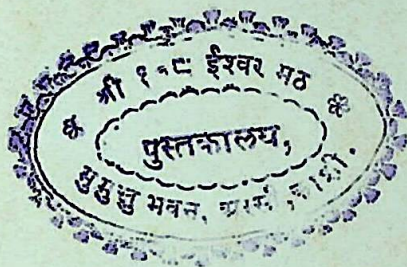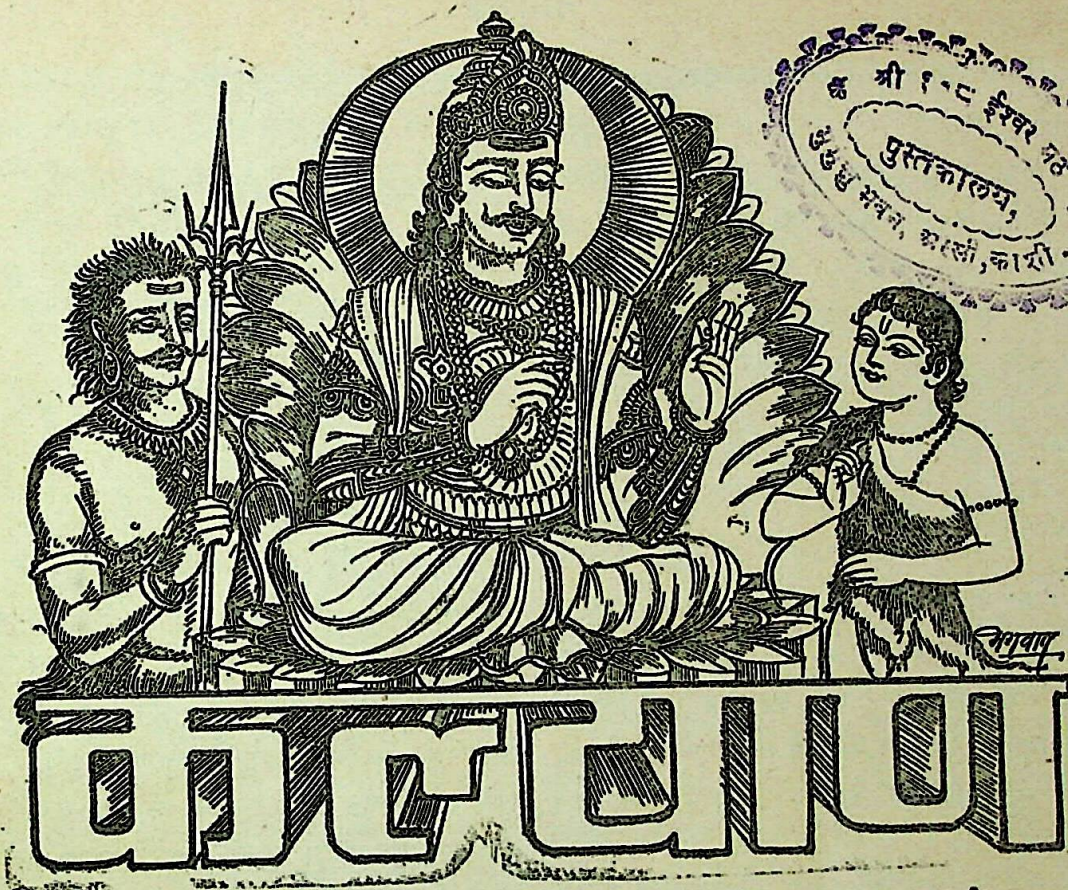
अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥
(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर आषाढ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जून १९७१ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ५३५

दुर्गाजीसे प्रार्थना

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥
(श्रीदुर्गासप्तशती ४ । ३)

सम्पूर्ण देवताओंकी शक्तिका समुदाय ही जिनका स्वरूप है तथा जिन देवीने अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, समस्त देवताओं और महर्षियोंकी पूजनीया उन जगदम्बाको हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं । वे हमलोगोंका कल्याण करें ।

भगवान्‌के शरणापन्न भक्तको शास्त्रोक्त एवं भगवान्‌के अनुकूल आचरण करना चाहिये; पर विश्वास केवल भगवान्‌पर ही रहे, अपने कर्मपर नहीं, अपने पुरुषार्थ-पर नहीं। भगवान् अपने मनकी वस्तु अपने मनसे देते हैं। हमारा मन भगवान्‌के मनतक पहुँच नहीं सकता, बुद्धि भी वहाँतक नहीं पहुँच सकती। अतः जो व्यक्ति मन और बुद्धिका आश्रय लेकर भगवान्‌के सामने माँगने जायगा, वह क्या माँगेगा—यह भोग, वह भोग। हमारी यह माँग भगवान्‌के मनसे सदा कम ही रहेगी। अतः माँगनेकी बात भगवान्‌पर ही छोड़ दें; उनसे कहें—"नाथ! हम तो तुम्हारे हो गये; तुम चाहे दो अथवा मत दो। हमें उससे मतलब नहीं। हमें तो केवल एक बातसे मतलब है कि तुम निरन्तर यह मानते रहो—'यह हमारा है'। बस, और कुछ नहीं। तुम्हारे मनमें निरन्तर यह बात बनी रहे कि 'यह हमारा है और हमारे मनमें निरन्तर यह बात बनी रहे कि 'हम तुम्हारे हैं।"

'भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं'—यह विश्वास, जो जितना कर सके, करके देख ले। इसका प्रत्यक्ष फल सामने आयेगा। भगवान् उधारकी चीज नहीं हैं। कोई भी विश्वास करके देख ले, तुरंत उत्तर मिलेगा। कमी होती है तो विश्वासकी। भगवान्‌को भूलकर अन्यत्र सुख खोजते रहिये, शान्ति खोजते रहिये; कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। जिन खेतोंमें लहसुन-प्याज-की खेती की गयी हो, उसमेंसे हम केसर खोजें तो चाहे खोजते हुए मर भले ही जायँ, केसर हाथ नहीं लगेगी। जब वे खेत केसरके हैं ही नहीं, तब उनमेंसे केसर मिलेगी कैसे? भगवान्‌ने कहा है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
> (गीता ५। २२)

—ये जितने भी संस्पर्शज भोग हैं, सब-के-सब 'दुःखयोनि' हैं—दुःखोंके खेत हैं। इन दुःखोंके खेतोंमेंसे यदि कोई सुखकी आशा करे तो वह निराश ही होगा। यह हमारा कितना बड़ा मोह है कि हम निरन्तर नये-नये भोगोंसे, नयी-नयी संसारकी परिस्थितियोंसे सुखकी आशा करते हैं। यही भ्रम है। सुख वहाँ है नहीं, शान्ति वहाँ है नहीं। जो चीज जहाँ है नहीं, वह वहाँ मिलेगी कैसे? इसी खोजमें हम भटकते रहते हैं निरन्तर एक योनिसे दूसरी योनिमें। नाना प्रकारके कष्टोंको सहते हुए, दुःख भोगते हुए हम कहते हैं—'इस बार मिलेगा', 'यहाँ मिलेगा और इस बार मिलेगा'—यह कहते हुए हम मर जाते हैं, किंतु मिलता कुछ भी नहीं। हाय-हाय करते हुए जीवन ही चला जाता है। पर मनुष्य-जीवन बहुमूल्य है। उसको इस प्रकार खोना नहीं चाहिये। अतएव हम अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें डाल दें—बिना शर्त विश्वास करके डाल दें कि "हे नाथ! जो कुछ करो, तुम करो। हम तो तुम्हारे अनुकूल आचरण करते हैं। बस, फिर तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। तुम जैसा चाहो, वैसा करो। कुछ दे दो, चाहे कुछ छीन लो; स्वर्ग ले जाओ, चाहे नरकमें डाल दो। न हमें प्राप्त करनेका सुख है, न छिननेका दुःख। न स्वर्गका प्रलोभन, न नरकका भय। तुम हमें नरक ले जाओगे तो तुमको साथ-साथ नरक जाना पड़ेगा। तुम्हारे बिना हम नरक जायँगे क्या? हम जीव तो चेतन हैं नहीं; हमारे अंदर जो चेतन आत्मा है, वह तुम ही तो हो—

> अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
> (गीता १०। २०)

उसी आत्माके रूपमें तुमको ही नरक भोगना पड़ेगा। केवल एक ही बात है—'तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं'—इस बातमें गड़बड़ी न हो।"

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

निरन्तर अपना विवेक बनाये रखिये ।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

(गीता १६ । ५)

अर्थात् 'दैवी सम्पदा मुक्ति प्रदान करनेवाली है, जब कि आसुरी सम्पदा बन्धनका हेतु है।' अन्तःकरणकी दो प्रधान वृत्तियाँ हैं—मन एवं बुद्धि। मनको स्वभावतः दुर्गुण एवं दुराचार प्रिय लगते हैं; कारण, मन आपात-रमणीय वस्तुओंकी ओर सरलतासे आकृष्ट होता है। बुद्धिका काम उचित-अनुचितका निर्णय करना है। इससे बुद्धि मनको दुर्गुण-दुराचारके त्याग एवं सद्गुण-सदाचारके ग्रहणकी प्रेरणा देती है। परंतु जब हम बार-बार मनके प्रलोभनके सामने बुद्धिके निश्चयको महत्त्व नहीं देते, तब धीरे-धीरे बुद्धिका निश्चय भी मनके अनुकूल होने लगता है और मनुष्यका विनाश हो जाता है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'। (गीता २ । ६३)

अतएव मनुष्यको अपना विवेक निरन्तर बनाये रखना चाहिये। बुद्धि निरन्तर मनपर नियन्त्रण रक्खे और उसे यह समझाती रहे कि 'अमुक काम करनेमें तुम्हारी हानि है और अमुक काम करनेमें तुम्हारा लाभ है।' जब मन बुद्धिके निश्चयको मान लेगा, तब वह स्वतः दुर्गुण-दुराचारसे हट जायगा। एक व्यक्ति रोगी है। वैद्य कहते हैं—'अमुक चीज तुम्हारे लिये कुपथ्य है। यदि तुम उसे नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारा रोग बढ़ जायगा और तुम्हारी मृत्यु भी हो सकती है।' रोगीको वह वस्तु बहुत प्रिय है; किंतु वैद्यके आदेशपर उसे विश्वास है, इससे वह उस वस्तुका त्याग कर देता है। इसी प्रकार यदि हमारा शास्त्र एवं संतोंपर विश्वास हो जाय तो हम दुर्गुण-दुराचारोंकी तरफ ताकेंतक नहीं। संतोंने कहा है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

संतोंकी इस चेतावनीपर विश्वास करके विषयमात्रसे हमें बचना चाहिये और सद्गुण-सदाचारको अमृत मानकर उसका सेवन करना चाहिये।

प्रेम एवं श्रद्धाके साथ साधना करनेवाला ही भगवान्‌को प्राप्त करनेमें सफल होता है।

भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये सीधा साधन है—भगवान्‌के स्वरूपको आपने अपनी बुद्धिसे जैसा समझा है, उसे हर समय याद रखना चाहिये। दूसरोंकी बुद्धिमें भगवान्‌का जो स्वरूप सूक्ष्म या सूक्ष्मतर समझा जा चुका है, उससे आपका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। आपने अपनी बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपको जैसा समझा है, आपके लिये वही स्वरूप ठीक है। भगवान्‌के स्वरूपको समझनेमें आपके द्वारा यदि कोई त्रुटि या न्यूनता है तो उसकी जिम्मेदारी आपपर नहीं है। उसकी जिम्मेदारी भगवान्‌पर है और उसकी पूर्ति स्वयं वे ही कर सकते हैं। आप यह कह सकते हैं कि 'भगवान्‌के स्वरूपको हमने अपनी स्थूल बुद्धिसे जैसा समझा है, उसकी अपेक्षा एक बुद्धिमान् शास्त्रवेत्ता पुरुष विद्या एवं शास्त्रज्ञानसे पुष्ट सूक्ष्म बुद्धिसे निश्चय ही भगवान्‌के सूक्ष्मतर स्वरूपको समझ सकेगा; हम तो अभी उसकी कल्पना भी करनेमें समर्थ नहीं हैं; अतएव हमारी अपेक्षा उस विद्वान् शास्त्राभ्यासी पुरुषको भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होनी चाहिये।' परंतु आपका यह तर्क ठीक नहीं है। सम्भव है कि शास्त्रोंका मर्मज्ञ तथा शास्त्राभ्याससे सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के सूक्ष्म स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अपनी उस समझका उपयोग नहीं करता—वह भगवान्‌के स्वरूपकी उपासना नहीं करता। लौकिक व्यवहारमें हम देखते हैं कि एक व्यक्तिने अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका बड़ा सुगम

रास्ता समझ लिया है; पर उस सीधे रास्तेको जानते हुए भी यदि वह उस रास्तेको पकड़कर उस स्थानतक पहुँचनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह अपने लक्ष्य-स्थानपर कैसे पहुँच सकता है। इसके विपरीत दूसरे व्यक्तिने अपने गन्तव्य स्थानका जो रास्ता समझा है, वह बड़ा विकट एवं लंबा है; पर वह उस रास्तेको पकड़कर चल रहा है तो यह निश्चय है कि देर-सवेर वह अपने लक्ष्यतक पहुँच ही जायगा। यही बात साधनाके क्षेत्रमें है। जो व्यक्ति अपनी समझसे अपने ज्ञानका उपयोग करके प्रेम एवं श्रद्धाके साथ भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें लग जाता है, वही सफल होता है।

विरोधी तत्त्वोंसे बचते रहिये, नहीं तो जीवन नष्ट होते देर नहीं लगेगी।

साधकको अपनी साधनामें लगे रहते हुए विरोधी तत्त्वोंसे बराबर सावधान रहना चाहिये, तभी उसकी साधना सफल हो सकती है। अन्य सावधानियोंके साथ-साथ उसे चाहिये कि वह निम्नलिखित चार प्रकारके व्यक्तियोंसे बराबर बचता रहे—उन्हें भयावह समझता रहे। जैसे हमलोग प्लेग आदि भीषण रोगों एवं मृत्युसे बराबर भयभीत रहते हैं, उसी प्रकार इन व्यक्तियोंसे बचना चाहिये—

(१) जो व्यक्ति नास्तिक हैं—अर्थात् जो ईश्वर एवं धर्मको नहीं मानते, इस प्रकारके व्यक्ति सबसे अधिक हानिकारक हैं; कारण, भगवान् एवं धर्मका विश्वास ही मनुष्यके अस्तित्वका आधार है। बिना इस विश्वासके मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहता, तब वह साधना क्या करेगा।

(२) जो लोग स्वयंको गुरु कहकर दूसरोंको शिष्य बनानेके प्रयत्नमें रहते हैं, इस प्रकारके व्यक्तियों-की प्रवृत्तिके मूलमें रहता है—केवल स्वार्थ—शिष्योंको ठगनेकी इच्छा। अतएव जो लोग अपना नाम जपवाना चाहें, अपना ध्यान करवाना चाहें, अपनी पूजा करवाना चाहें, अपने प्रति सर्वस्व अर्पण करवाना चाहें—उन लोगोंसे सदा सावधान रहना चाहिये।

(३) जो लोग तुच्छ प्रकृतिके हैं, दुष्टात्मा हैं—अर्थात् काम-क्रोध आदिके परायण हैं। शास्त्रमें आया है—यदि सामनेसे एक मदोन्मत्त हाथी आता हो और दूसरी ओरसे एक दुष्टात्मा, तो दुष्टात्माके चंगुलमें न जाकर अपनेको हाथीके समर्पित कर देना चाहिये; क्योंकि हाथीसे एक बार ही मृत्यु होगी, पर दुष्ट व्यक्तिके सङ्गसे मनुष्य न जाने कितनी बार पापरूपी मृत्युको प्राप्त होगा तथा उसे जन्मान्तरमें नरकोंकी प्राप्ति होगी।

(४) पुरुषोंको परस्त्रीका सङ्ग तथा स्त्रीको पर-पुरुषका सङ्ग नहीं करना चाहिये। अच्छी नीयतसे किये हुए सङ्गमें भी धोखा होनेकी सम्भावना रहती है।

जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं तथा जो अपनी साधनाको निर्विघ्न बढ़ाना चाहते हैं, उनको उपर्युक्त चार प्रकारके व्यक्तियोंसे सदा बचना चाहिये, नहीं तो जीवन नष्ट होते देर नहीं लगेगी।

लाज-शर्म छोड़कर अपने गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करनेका नियम बना लें।

व्यवहार-शुद्धिके लिये एक सरल उपाय यह है कि घरमें या बाहर जो भी हमसे अवस्था, ज्ञान, आचरण, पद, वर्ण अथवा आश्रम—किसी भी दृष्टिसे बड़े हों, उनको प्रातःकाल शौच-स्नानादिके बाद नमस्कार करना चाहिये। यह एक-दो क्षणका काम है और इसमें विशेष परिश्रम भी नहीं है; किंतु इसका फल अमोघ है। नमस्कारसे गुरुजनोंको संतोष होता है और वे हृदयसे आशीर्वाद देते हैं, जिसके फलस्वरूप विद्या, बल, आयु और यश—इन चारकी वृद्धि होती है। इसीसे नमस्कार हमारे धर्मका एक विशेष अङ्ग माना गया है।

भगवान्ने भी गीतामें इस बातको स्पष्टरूपसे कहा है—

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं' (गीता १७ । १४)

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन करना—उन्हें नमस्कार करना चाहिये ।

नमस्कारसे परस्पर प्रेम बढ़ता है । यह प्राचीन परिपाटी है कि जब किसीकी किसीसे लड़ाई हो जाती है तो परस्पर मेल होनेपर छोटा बड़ेको नमस्कार करता है अर्थात् अपनी भूलके लिये क्षमा-याचना करता है । यदि हम अपने गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करें तो स्वाभाविक ही लड़ाई-झगड़ेसे बचेंगे । मनमें स्वतः संकोच होगा कि जिन्हें प्रातःकाल प्रणाम करते हैं, उनकी बातकी कैसे अवज्ञा करें । साधनामें भी नमस्कार बहुत आवश्यक है । नमस्कारका अर्थ है—अपने अहंको दूसरेके सामने झुकाना । यही साधनाका मूल है । इसीसे शास्त्रोंमें दृश्यमात्र—जड-चेतन सबको नमस्कार करनेको साधनरूपमें कहा गया है । तुलसीदासजीने भी कहा है—

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

अतएव अपनी योग्यताको भूलकर, लाज-शर्म छोड़कर, अपने गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करनेका नियम बना लेना चाहिये । अच्छे कामको करनेमें कभी भूलकर भी संकोच-शर्म नहीं करनी चाहिये । संकोच-शर्म तो झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार करनेमें, मांस-मदिराके सेवनमें तथा दुर्गुण-दुराचारोंके आचरणमें करनी चाहिये ।

श्रीमाताजीकी बातचीत

[शरीरकी अभीप्सा]

(ले०—श्रीमाँ, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी)

तुम्हारी अभीप्सा शारीरिक भी हो सकती है—इस अर्थमें कि शरीर यह अनुभव करे कि उसे एक प्रकारका संतुलन प्राप्त करना चाहिये, जिसमें सत्ताके सभी भाग अच्छी तरह संतुलित रहें; और यह कि तुम्हें रोगोंको दूर रखनेकी अथवा, यदि वे दुष्टतावश तुम्हारे अंदर घुस आयें, तो उनपर शीघ्रतासे विजय प्राप्त करनेकी क्षमता हो; और यह भी कि शरीर सदा सामान्यरूपसे सामञ्जस्यपूर्ण और स्वस्थ अवस्थामें रहकर क्रिया करे । यह है शारीरिक अभीप्सा ।

प्र०-शरीरमें अभीप्सा कैसे आ सकती है; क्योंकि सोचनेकी क्रिया तो मन करता है ?

उ०-जबतक सोचनेकी क्रिया मन करता है, तबतक तुम्हारा शरीर तीन-चौथाई जड है और उसमें अपनी निजी चेतना नहीं है । एक विशुद्ध शारीरिक चेतना होती है, शरीरकी चेतना—शरीर अपने प्रति सचेतन रहता है और उसमें अपनी निजी अभीप्सा होती है । जबतक तुम अपने शरीरके विषयमें सोचते हो, तबतक तुम अपनी शारीरिक चेतनामें नहीं हो । शरीरकी एक चेतना है, जो व्यक्तिगतरूपसे उसकी अपनी है और मनसे बहुत स्वतन्त्र है । शरीरको अपनी निजी क्रियाकी या अपने निजी संतुलन या असंतुलनकी पूर्ण चेतना होती है; और यदि उसमें कहीं कोई गड़बड़ी पैदा हो जाती है तो उसे पूरी तरह बिल्कुल ठीक-ठीक पता चल जाता है कि वह किस विशेष स्थानपर है; और वह उसके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है और कोई बाहरी अभिव्यक्ति न होनेपर भी उसे बहुत ठीक-ठीक अनुभूत करता है । शरीर इसके प्रति सचेतन होता है कि उसकी सभी क्रियाएँ सामञ्जस्यपूर्ण, संतुलित, सुनियमित और जैसे उन्हें चलना चाहिये वैसे चल रही हैं या नहीं;

उसमें एक प्रकारकी परिपूर्णता होती है, परिपूर्णता, आनन्द और शक्तिकी भावना—जीनेके, क्रिया करनेके, जीवन और शक्तिसे भरे संतुलनके भीतर गति करनेके आनन्द-जैसी कोई वस्तु। अथवा शरीर इसके प्रति सचेतन हो सकता है कि मन और प्राणने उसके साथ दुर्व्यवहार किया है, अथवा इससे उसके संतुलनमें हानि पहुँची है और उससे वह कष्ट पा रहा है। यह उसके अंदर असंतुलन सृष्ट कर सकता है।

तुम इतनी हदतक अपनी शारीरिक चेतनाका विकास कर ले सकते हो कि यदि तुम शरीरके बिल्कुल बाहर चले जाओ, यदि शरीरसे प्राण बिल्कुल बाहर निकल आयें, तो भी शरीरकी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्र चेतना रहती है, जो उसे यह क्षमता प्रदान करती है कि वह प्राणके बिना भी रह सके, बिल्कुल स्वतन्त्ररूपसे अपनेको हिला-डुला सके, अनेकों प्रकारके अत्यन्त सरल कार्य कर सके। शरीर बोलना सीख सकता है, मन और प्राण उससे बाहर, बहुत दूर कहीं अन्यत्र व्यस्त हो सकते हैं; किंतु जो सूत्र उन्हें जड पदार्थसे मिलाता है, उसके माध्यमसे वे अब भी एक ऐसे शरीरद्वारा अपनेको व्यक्त कर सकते हैं, जिसमें न मन है न प्राण और जो इतनेपर भी बोलना सीख सकता है, दूसरे जो कहें उसे दुहरा सकता है, हिल-डुल सकता है—मैं यह नहीं कहती कि वह कोई बड़े भारी काम कर सकता है, पर वह हिल-डुल सकता है, जैसे बोलना वैसे ही लिखना सीख सकता है। वह बोलना जरा धीमा, जरा कठिन प्रकारका होता है, किंतु अन्ततः यह इतना स्पष्ट (काफी शब्द) बोल ले सकता है कि लोग उसे समझ लें। और फिर भी मन और प्राण बिल्कुल निकल गये, उससे बाहर हो गये हो सकते हैं। यह है शारीरिक चेतना।

और तब, जब तुम शरीरकी यह चेतना विकसित कर चुके होते हो, तब तुम्हें भिन्न-भिन्न चेतनाओंके पारस्परिक विरोधका बड़ा स्पष्ट बोध हो सकता है। जब शरीरको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है और वह इसके विषयमें सचेतन होता है कि उसे वही चाहिये और प्राण कोई अन्य वस्तु चाहता है और मन भी कोई और ही वस्तु, तब उनके बीच बहस छिड़ जा सकती है, पारस्परिक विरोध और संघर्ष हो सकता है; और तुम भलीभाँति समझ जा सकते हो कि शरीरका संतुलन क्या है, शरीरकी अपनी निजी आवश्यकता क्या है और प्राण, अज्ञ होनेके कारण, उसमें किस प्रकार हस्तक्षेप कर उसका संतुलन बिगाड़ देता है और उसके विकासमें बहुत हानिकर सिद्ध होता है और जब मन पहुँचता है, तब वह कोई और गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है; और लो, अब प्राण और शरीरके बीच जो अव्यवस्था थी, उसमें एक और जुड़ जाता है। यह अपने विचारों, अपने माप-दण्डों, अपने सिद्धान्तों, अपने विधानों और नियमों आदिको उसमें घुसेड़ डालता है; और चूँकि इसे दूसरोंकी आवश्यकताका ठीक-ठीक पता नहीं होता, यह वही करना चाहता है जो दूसरे करते हैं। मानव प्राणियोंका स्वास्थ्य पशुओंकी अपेक्षा अधिक नाजुक और अनिश्चित होता है; क्योंकि उनका मन हस्तक्षेप करके शरीरका संतुलन बिगाड़ देता है। शरीरको आपपर छोड़ देनेमें उसमें एक बड़ी सुनिश्चित सहजवृत्ति होती है। उदाहरणके लिये शरीरको अपने आपपर छोड़ देनेपर, वह बिना आवश्यकताके कभी नहीं खायेगा और न कोई ऐसी वस्तु खायेगा जिससे उसकी हानि हो, सोनेकी आवश्यकता होनेपर सोयेगा, काम करनेकी आवश्यकता होनेपर काम करेगा। शरीरकी एक बड़ी सुनिश्चित

सहजवृत्ति होती है। ये तो मन और प्राण हैं, जो इसे अव्यवस्थित कर देते हैं—एक अपनी कामनाओं, अपनी मनमौजी इच्छाओंद्वारा, दूसरा अपने सिद्धान्तों, अपने मताग्रहों, अपने विचारों, अपने विधानोंद्वारा। और दुर्भाग्यवश, जिसे सभ्य समाज समझा जाता है, उसमें जो शिक्षा बच्चोंको दी जाती है, उससे शरीरकी यह इतनी सुनिश्चित सहजवृत्ति पूर्णतः नष्ट हो जाती है, इसे छोड़कर बाकी सबका राज्य हो जाता है और तब, जो होना है, वही होता है तुम उन चीजोंको खाते हो, जिनसे तुम्हारी हानि होती है, विश्रामकी आवश्यकता होनेपर तुम विश्राम नहीं करते या ऐसे काम करते हो, जिन्हें नहीं करना चाहिये और तुम अपना स्वास्थ्य बिल्कुल बिगाड़ लेते हो।

प्र०—सक्रिय श्रद्धा और महान् विश्वास क्या एक ही वस्तु नहीं हैं ?

उ०—आवश्यक नहीं। यह जानना होगा कि श्रद्धा किस तत्त्वका बना है और विश्वास किस तत्त्वका बना है; क्योंकि उदाहरणार्थ, यदि तुम सामान्य जीवन बिता रहे हो, जीवनकी सभी परिस्थितियाँ बिल्कुल सामान्य हैं तुम वहके विचारों या अवसाद लानेवाली शिक्षासे रहित हो, तो जवानीभर और सामान्यतः तीस वर्षतक जीवनमें तुम्हारा पूर्ण विश्वास होता है। उदाहरणके लिये यदि तुम ऐसे लोगोंसे घिरे नहीं हो जो, ज्यों ही तुम्हें जरा-सा जुकाम हुआ, घबरा जाते हैं और तुम्हें दवाइयाँ देने लगते हैं, यदि तुम सामान्य परिवेशमें हो और किसी भी चीजके शिकार हो जाते हो—किसी दुर्घटनाके या छोटी-मोटी बीमारीके—तो शरीरको यह निश्चिति होती है, यह पूर्ण विश्वास होता है कि 'सब ठीक हो जायगा। यह कुछ भी नहीं है, यह चला जायगा। यह अवश्य चला जायगा। मैं कल या कुछ दिनोंमें बिल्कुल ठीक हो जाऊँगा।' तब, तुम्हें चाहे जो कुछ भी हुआ हो, तुम निश्चय चंगे हो जाओगे। यही शरीरकी सामान्य अवस्था है पूर्ण विश्वास कि 'हमारे सामने सारी जिंदगी पड़ी है और सब ठीक ही होगा।' और इससे बड़ी सहायता मिलती है। तुम दसमें नौ बार अच्छे हो जाते हो। 'यह कुछ नहीं है, यह है क्या, यह एक आकस्मिक दुर्घटना है, यह ठीक हो जायगा, यह कुछ नहीं है।' कितने लोग हैं, जो इस प्रकारके विश्वासको बहुत लंबे समयतक बनाये रखते हैं; उन्हें कुछ हो नहीं सकता और यदि उन्हें कुछ हो भी तो उसका किसी प्रकारका मूल्य नहीं होता। निश्चय ही यह सब ठीक हो जायगा; उन लोगोंके सामने सारी जिंदगी होती है। स्वभावतः, यदि तुम ऐसे परिवेशमें रहते हो जहाँके विचार अस्वस्थ हैं और लोग अपना समय तुम्हें आपदाओं और विपदाओंकी कथा सुनानेमें बिताते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया तुम्हारे शरीरपर होती है। वरना, शरीर जैसा है, वैसी अवस्था चालीस वर्ष, पचास वर्षतक बनाये रख सकता है—यह उन लोगोंपर निर्भर करता है, जो संतुलित और सामान्य जीवन जीना जानते हैं। किंतु ऐसा तभी सम्भव है, जब शरीरको अपने जीवनमें पूर्ण विश्वास होता है। पर जब, जैसा कि मैंने कहा, दूषित और अस्वस्थ कल्पनाएँ लिये विचार जीवनमें घुस आता है, तब सब कुछ बदल जाता है। मैंने ऐसे उदाहरण देखे हैं कि बच्चोंको छोटी-मोटी चोटें आयीं, जो दौड़नेमें या खेलनेमें लगा करती हैं और उन्होंने इसके विषयमें सोचातक नहीं, वे तुरंत चली गयीं।

मैंने ऐसे दूसरे लोग भी देखे हैं, जिनके परिवारवालोंने बचपनमें होश आनेके साथ उन्हें सिखा दिया था कि 'सब कुछ खतरनाक है, सर्वत्र कीटाणु विद्यमान हैं। सावधान रहना चाहिये, साधारण-सा घाव भी सर्वनाशी हो सकता है, पूर्णतः जागरूक रहकर

सावधानी बरतनी चाहिये कि कोई गम्भीर बात न हो जाय····।'तब उन्हें पट्टी बाँधनेकी, कीटाणुनाशक औषधसे धोनेकी आवश्यकता पड़ती है और वे पूछते रहते हैं—'मुझे क्या होने जा रहा है? ओह! शायद मुझे धनुष्टंकार हो जायगा, विषैला ज्वर हो जायगा····'स्वभावतः ऐसी अवस्थामें तुम जीवनके प्रति अपना विश्वास खो बैठते हो और शरीर इसे बड़ी तीव्रतासे अनुभव करता है। इसकी प्रतिरोध करनेकी शक्ति तीन चौथाई चली जाती है। किंतु सामान्यतः, स्वभावतः, यह शरीर ही है, जिसे पता होता है कि उसे स्वस्थ रहना चाहिये और वह यह भी जानता है कि प्रतिरोध करनेकी शक्ति उसमें है। और यदि उसे कुछ होता है तो वह घटित होनेवाली स्थितिसे कहता है—'यह कुछ नहीं है, यह चली जायगी, तू उसकी परवा न कर, वह समाप्त हो गयी।' और वह चली जाती है।

यह है पूर्ण विश्वास।

अब तुमने कहा—'सक्रिय श्रद्धा।' सक्रिय श्रद्धा कोई और वस्तु है। यदि तुम्हारे अंदर भागवती कृपामें श्रद्धा है कि भागवती कृपा तुम्हारी चौकसी कर रही है—और जो कुछ भी हो, भागवती कृपा तुमपर चौकसी करती हुई विद्यमान है, तो इसे तुम जीवनभर और सर्वदा बनाये रख सकते हो; और इसके साथ तुम सारे संकटोंको पार कर सकते हो, सारी कठिनाइयोंका सामना कर सकते हो और तुम्हें कुछ नहीं होता; क्योंकि तुम्हारे साथ श्रद्धा और भागवती कृपा विद्यमान हैं। यह एक ऐसी शक्ति है, जो अनन्तगुनी अधिक प्रबल, अधिक चेतन, अधिक स्थायी है तथा जो तुम्हारी शारीरिक रचनापर निर्भर नहीं करती; अतः वह परम सत्यपर निर्भर करती है और उसे कोई डिगा नहीं सकता। यह बहुत भिन्न वस्तु है।

(प्रेषक—श्रीजलेश्वरजी)

मनुष्य-शरीरकी दुर्लभता

अब कहा सोय, 'राम' कह, भाई! रैन गई, वासर भयो आई॥
पूर्व पुन्य ते नर-देह पाई। हरि बेमुख मत भूल गमाई॥
ताते एइ उर करो विचारा। नर-तन मिलै न वारंवारा॥
जात कपूर उड़ै कर सेती। तो बहुरै आवै नहिं जेती॥
तिरियां तेल चढ़ै इक बारा। बहुरि न चढ़हि दूसरी बारा॥
केल फूल-फल एकहि होई। बहुरै फल लागै नहिं कोई॥
काच फूट किरची हुय जावै। सो बहुरै साबत नहिं थावै॥
सुतिया छिटक परी सिंध माँहीं। सो कबहूँ कर आवै नाहीं॥
एक बार कागज लिख सोई। जो दूसर लिखिहै नहिं कोई॥
जो मोती बींधत जो फूटा। तो कबहूँ मीले नहिं पूठा॥
फाट पषाण तेड़ जो आई। सो कबहूँ मीलै न मिलाई॥
सती सिंगार किया सज सोई। या तन और करै नहिं कोई॥
ऐसे ही यह नर-तन कहिये। सो विनसै बहुरै नहिं पइये॥
नर-तन अबै होय तब, भाई! 'सेवगराम' राम लिव लाई॥

—संत श्रीसेवगरामजी महाराज

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन)

नित्य-निरन्तर भगवान्‌का मधुर स्मरण करते रहना । यह निश्चय रखना कि भगवान् अत्यन्त कोमलस्वभाव, दीनबन्धु, पतितपावन हैं । वे सहज ही क्षमाशील हैं । अपनी भूलोंके लिये पश्चात्ताप करते हुए यदि हम उनकी दयालुतापर विश्वास करके उनके शरणापन्न हो जायँ तो वे हमें तुरंत अपना लेते हैं । वे कुछ भी दोष-अपराध नहीं देखते । वे अकारण कृपालु तथा सहज सुहृद् हैं । अतएव उनके शील-स्वभावकी ओर देखकर निरन्तर उनके शरणापन्न हो रहना चाहिये । जहाँतक बने, मनमें सांसारिक वासनाका, इन्द्रियतृप्तिकी इच्छाका लेश भी नहीं आना चाहिये । यह बहुत बड़ी बाधा है । इससे सदा बचना चाहिये और सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींकी स्मृतिमें चित्तको अखण्डरूपसे लगाये रखना चाहिये । मनमें कभी निराश, उदास एवं विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये । वे कहते हैं—'मा शुचः—मत सोच करो' । तब भी यदि हम सोच करते हैं तो दो ही बातें हैं—या तो हम शरणापन्न नहीं हैं या उनपर हमारा विश्वास नहीं है ।

× × × ×

प्रभु हमारे मनके भीतर-से-भीतरकी बातको, स्थितिको प्रत्यक्षवत् देखते हैं । उनसे कुछ छिपा भी नहीं है । सब कुछ देख-जानकर वे हमारे प्रेमास्पद परम सुहृद् प्रभु हमारे लिये जो कुछ विधान करते हैं, वही हमारे लिये मङ्गलमय है । उसे सदा-सर्वदा परम प्रफुल्लित चित्तसे स्वीकार करना चाहिये । ऐसा होनेपर भी प्रभुके लिये विरह होना—प्राणोंका छटपटाना दोष नहीं है, परम वाञ्छनीय है । प्रभु-विरह प्रभुकी नित्य मधुर स्मृति करानेवाला होनेके कारण अत्यन्त ही आदरकी वस्तु है । इसलिये कुछ प्रेमीजन तो मिलनकी अपेक्षा भी विरहको अधिक आदर देते हैं और उसके सदा बने रहनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं । कहीं-कहीं मिलन-विरह दोनोंका मिलन भी हो जाता है । प्रेमकी बड़ी अटपटी स्थिति है ।

× × × ×

प्रभु हम सबकी सुनते हैं, पूरी-पूरी सुनते हैं; पर वे करते हैं अपने मनकी । खास करके उनके लिये वे निःसंकोच होकर और भी अपने मनकी करते हैं, जिन्होंने अपने आपको उनके समर्पण कर दिया है । वे तो उन्हींके हाथके खिलौने हो गये हैं, वे चाहे जैसे खेलें—खिलायें । 'प्रभुकी इच्छामें मेरा कोई वश नहीं है'—यों न सोचकर प्रभुकी इच्छामें हमलोगोंको परम प्रसन्नताका अनुभव करना चाहिये । सदा-सर्वदा प्रभुका मङ्गलमय चिन्तन करना चाहिये तथा कभी भी, कहीं भी प्रभुको अपनेसे दूर नहीं समझना चाहिये । वे सदा सर्वत्र हमारे साथ रहते हैं—सोते-जागते, खाते-पीते, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक—सभीमें, सभी समय । अतएव उन्हें निरन्तर अपने अत्यन्त समीप समझकर परम प्रसन्न रहना चाहिये और उनका चिन्तन करना चाहिये ।

× × × ×

तुम्हारी यह कामना कि 'प्रभुकी मधुर स्मृति मेरे हृदयमें, मेरे रोम-रोममें, मन-बुद्धि-इन्द्रियमें सदा समायी रहे, कभी उनका मनसे वियोग न हो, कभी भी प्रभु मुझको छोड़कर इधर-उधर न चले जायँ, प्रेम कभी भी कम न हो, बल्कि बढ़ता चला जाय, गङ्गाकी धाराकी भाँति चित्तकी गति अनवरत प्रभुकी ओर बिना किसी रुकावटके निरन्तर बढ़ती रहे, कभी दूसरी ओर दृष्टि जाय ही

नहीं, इसके लिये समय ही न मिले'—बहुत ही सुन्दर और सुखद है । जहाँ अहैतुक सहज प्रभु-प्रेम होता है, वहाँ प्रभु किसी भी परिस्थितिमें रक्खें, उनका संयोग रहे या वियोग—प्रेममें कमी हो ही नहीं सकती । प्रेमकी धाराके रुकने तथा कम होनेकी तो कोई कभी कल्पना ही नहीं । जहाँ नीच स्वार्थ होता है और केवल निज सुखकी इच्छा होती है, वहाँ प्रेमके कम होनेकी कल्पना होती है । दिव्य चिन्मय प्रेममें दूसरा रहता ही नहीं । फिर दूसरेकी ओर ताकनेका समय मिलनेका भी कोई प्रश्न ही नहीं है । इसीलिये भगवत्प्रेमी पुरुष प्रभुमें निमग्न हुए आनन्द-सुधा-रसका पान किया करते हैं, सदा मस्त रहते हैं ।

× × × ×

यह निश्चय समझो कि तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है और उन्होंने तुमको अपना लिया है । अतः तुम्हें भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये तथा संतोष भी करना चाहिये कि भगवान् जब, जैसा, जो ठीक समझते हैं, वही करते हैं और वही करेंगे तथा उसीमें हमारा परम हित है । वे कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही । मनमें उदास, निराश तथा चिन्ताग्रस्त कभी नहीं होना चाहिये ।

× × × ×

मनकी साध तो प्रेमराज्यमें कभी पूरी होती ही नहीं; क्योंकि प्रेम अनन्त है । प्रेमीके हृदयकी जलन भी बड़ी मधुर होती है; क्योंकि वह प्रेमवैचित्त्यवश उनके नित्य पास रहनेपर भी नित्य वियोगका अनुभव कराकर प्रकट होती है । सचमुच ऐसे व्यक्ति जगत्‌के लिये बेकाम हो जाते हैं । उनका कौन स्पर्श करे और उन्हें स्पर्श करनेका अधिकार भी किसको है ? जिसे नित्य भगवत्-संस्पर्श प्राप्त है तथा जो भगवान्‌का है, उसकी ओर दूसरा देख ही कैसे सकता है ? उसके लिये तो सारा जगत् मिट गया । भगवान्‌के सिवा कुछ रहा ही नहीं । फिर वह किसका, कैसे स्पर्श करे ? जिनका स्पर्श उसे प्राप्त है, वे उसे छोड़ते ही नहीं—

चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात ।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात ॥

और दूसरोंकी वह स्मृति ही क्यों करे ?

× × × ×

तुम्हारा यह कहना सचमुच ठीक ही है कि हम प्रभुकी कृपा तथा उनकी इच्छासे ही उन्हें याद कर सकते हैं । यह सर्वथा सत्य है कि भगवान्‌का भजन, भगवान्‌का स्मरण, भगवान्‌में मन-बुद्धिका समर्पण, सब भगवत्कृपासाध्य ही है । अपने पुरुषार्थसे यह सब कुछ नहीं होता; परंतु बात इतनी ही समझनेकी है कि क्या हमपर भगवत्कृपा नहीं है ? भगवान्‌की कृपा नहीं है, ऐसा सम्भव ही नहीं है । उनकी अपार, अनन्त, असीम कृपा निरन्तर है । हम उस कृपा-समुद्रमें ही डूबे हैं; बस, कसर इतनी ही है कि उस नित्य, अपरिसीम कृपापर हमारे विश्वासमें कुछ त्रुटि है । विश्वास जितना ही दृढ़ और यथार्थ होगा, उतनी ही कृपाकी अधिक अनुभूति होगी और उनका स्मरण अधिक होगा और जगत्‌का चिन्तन घटेगा । जगत्‌की अनुकूलता-प्रतिकूलता भी तभीतक है, जबतक हम जगत्‌के दास बने हुए हैं, अपनेको विषयोंकी गुलामीमें समर्पण कर रक्खा है । जिस क्षण हम भगवान्‌के हो जायँगे, उसी

क्षण सारी अनुकूलता-प्रतिकूलता मिट जायगी—भगवान्का मधुर स्मरणजनित परमानन्द ही हमारा जीवन बन जायगा। न जागतिक दुःख रहेगा, न सुख। ब्रह्माजीने भगवान्से कहा था—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(भागवत १०। १४। ३६)

'हे श्रीकृष्ण! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग-द्वेष आदि चोर लगे रहते हैं, घर कैदखानेके समान हमें सदा बाँधे रखता है और हमारे पैरोंमें मोहकी बेड़ियाँ पड़ी रहती हैं।' अतः हमें उनकी कृपाका अनुभव करके उनका ही बन जाना चाहिये। यह अनुभव कृपापर विश्वास करनेसे ही हो जायगा।

× × × ×

प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छा समझकर प्रसन्न रहना चाहिये। प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास करके मनमें तो सदा ही प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें प्रतिकूलताका भाव न रहे तथा सभी समय, प्रत्येक अवस्थामें भगवान्का मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न रहा जाय, तो बहुत उत्तम है। जब हम सब बातें सबके अनुकूल नहीं कर सकते, हमारी बात, हमारी क्रिया दूसरोंके मनके प्रतिकूल होती है, तब दूसरे हमसे प्रतिकूल आचरण करें, इसमें हमें बुरा क्यों मानना चाहिये? क्यों सबसे अनुकूलताकी आशा करनी चाहिये? फिर भगवान्की ओर चलनेवाले तथा विषयासक्त लोगोंके तो मार्ग ही दो होते हैं और वे एक-दूसरेसे उलटे होते हैं। भगवान्के मार्गपर चलनेवाले लोगोंको विषयी लोग मूर्ख मानते हैं। वे उनका उपहास करते हैं। लोक-प्रतिकूलता उनके अङ्गका आभूषण बन जाती है। अतएव सदा सब अवस्थामें खूब प्रसन्न रहकर मनसे भगवान्की स्मृतिमें निमग्न रहना और भगवान्को अपने समीप अनुभव करते रहना चाहिये—भगवान् अपने जनको कभी छोड़ नहीं सकते। भगवान्के सम्बन्धमें यह समझना चाहिये कि भगवान् हमारे हैं, उनपर हमारा अधिकार है। भगवान्से डरनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उनको सुखी देखनेकी। हमारी प्रत्येक क्रियासे उनको सुख हो, बस यही साधना और यही साध्य है।

× × × ×

सच्चा मूल्य आत्माका है और वह अपने प्रियतम भगवान्के साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुकता है। फिर मन, इन्द्रिय तथा शरीरकी बात ही कहाँ है। सच्ची आत्मीयता प्राप्त हो गयी, उस भक्तका—प्रेमीका शरीर कहीं रहे, वह भगवान्से कभी विलग होता ही नहीं, हो सकता नहीं।

प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, वे भिखारियोंके दाता हैं, अनाश्रितोंके आश्रय हैं। वे ही मेरे सब कुछ हैं। पर भगवान् केवल सर्वसमर्थ दाता और आश्रय ही नहीं, वे प्रेमके भूखे हैं, प्रेमियोंको प्रेमास्पद मानते हैं और अपनेको उनका ऋणी मान लेते हैं। वे प्रेमी-सर्वस्व, प्रेमस्वरूप तथा आत्मस्वरूप हैं।

× × × ×

इस संसारमें जिसका कोई नहीं होता, उसीके भगवान् होते हैं। संसारमें कोई अपना न रहे—ऐसी स्थिति सौभाग्यका चिह्न तथा भगवत्कृपाका फल है। भगवान् तो कहते हैं—

जिसका कोई नहीं जगत्‌में, उसका प्रियतम होता मैं।
वह मेरे हियमें नित बसता, उसके हिय सुख सोता मैं॥
नहीं छोड़ता कभी उसे, मैं रहता नित्य उसीके पास।
वही हृदय-स्वामी है मेरा, मैं उसका निश्चय ही दास॥

'जिसका जगत्‌में कोई नहीं होता, उसका एकमात्र प्रियतम मैं होता हूँ। वह निरन्तर मेरे हृदयमें बसता है, मैं उसके हृदयमें सुखसे सोता हूँ। मैं उसे कभी नहीं छोड़ सकता, नित्य-निरन्तर उसीके पास रहता हूँ। वह मेरे हृदयका स्वामी है और मैं निश्चय ही उसका दास हूँ।'

इस प्रकार भगवान् ऐसे प्रेमीको केवल हृदयमें ही नहीं बसाते, उसके हृदयमें ही नहीं बसते, निरन्तर उसके पास रहते हैं, उसे कभी छोड़ते ही नहीं, वरं अपना हृदय-स्वामी बनाकर उसके दास हुए रहते हैं। दास, भला, स्वामीको छोड़कर कहाँ जाय? अतएव जो भगवान्‌का हो जाता है और जिसको भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, सचमुच उसका चित्त भगवान् सदाके लिये चुरा लेते हैं और चित्त-वित्तके बदलेमें अपनेको दे डालते हैं—पूरा दे डालते हैं।

× × × ×

यदि हमारे हृदयमें जरा भी भगवद्भक्ति या भगवत्प्रेम है तो भगवान् किसी रूपमें हमारे पास नित्य रहते ही हैं। हमारी बुद्धि, हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे नित्य भगवान्‌में ही रमण न करके जगत्‌में रमती हैं, इसीसे हमें उनके पास रहनेका अनुभव कम होता है। पर भगवान् कहते हैं, इससे हमें ऐसा ही मानना चाहिये और उनके नित्य पास रहनेका विश्वासपूर्वक निश्चय करना चाहिये, चाहे वे दीखें नहीं। साथ ही बुद्धि-मन-इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे निरन्तर भगवान्‌में रमण करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह काम मनके द्वारा ही हुआ करता है।

× × × ×

मनको सदा-सर्वदा विषय-चिन्तनसे हटाकर भगवच्चिन्तनमें लगाये रखना चाहिये। विशुद्ध भगवच्चिन्तन होनेपर विषयोंका चिन्तन अपने-आप ही छूट जाता है। परंतु कहीं-कहीं भ्रमवश भगवच्चिन्तनके नामपर भी विषय-चिन्तन होता रहता है। हमें पता भी नहीं लगता कि विषय-चिन्तन हो रहा है और ज्यों-ज्यों विषय-चिन्तन होता रहता है, त्यों-त्यों चित्त विषय-सागरमें डूबता जाता है और उसीमें मिथ्या आनन्दका बोध करता है। भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

'बार-बार विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें निमग्न होता है और मेरा चिन्तन होनेसे मुझमें ही तन्मय हो जाता है।' अतएव सदा-सर्वदा सावधानीसे विषय-गन्धसे रहित विशुद्ध भगवत्-चिन्तन करना चाहिये। जितना चित्त विषयोंमें आविष्ट होता है, श्रीकृष्णमें चित्तका आवेश उतना ही अधिक दूर हो जाता है—

विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः॥

भगवान्‌के चिन्तनमें एक मधुर आनन्दकी अनुभूति होनी चाहिये। फिर वह छूटता नहीं और दूसरे चिन्तनोंको नष्ट कर देता है।

× × × ×

तुम मनमें चिन्ता मत किया करो । भगवान्‌की कृपा तथा उसके मङ्गलविधानपर विश्वास रक्खा करो । वे हमारे लिये जब जो, जैसी व्यवस्था करें, उसीमें मङ्गल है । संसारकी तो सभी चीजें अनित्य और परिवर्तनशील हैं । उनके परिवर्तनमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करना चाहिये । संसारमें संयोग-वियोग होते ही रहते हैं । मनको, जहाँतक बने, प्रभुके चरणोंमें लगाये रखना चाहिये ।

× × × ×

मनका मिलन प्रत्यक्ष मिलनेसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्पष्ट होता है । जिनको यह सौभाग्य प्राप्त है, वे ही इसे जानते हैं । शरीर दूर रहनेपर भी मनके मिलनमें कितना अधिक निकट-का सम्बन्ध रहता है, कितनी अधिक संनिधि रहती है, यह अनुभवका विषय है और मनका मिलन ही असली मिलन है । भगवान्‌ने गीतामें मन-बुद्धिके समर्पण—मनके मिलनपर ही विशेष जोर दिया है । शरीरका मिलन किसी भी कारणसे, किसीके द्वारा भी हट सकता या हटाया जा सकता है, पर मनके मिलनको हटानेकी शक्ति किसीमें नहीं है । यह चलते-फिरते, सोते-जागते, एकान्तमें-भीड़में, बाहर-भीतर, दिन-रात, घरमें-जंगलमें, मन्दिरमें-महलमें, पूजास्थलमें-रणक्षेत्रमें—सभी अवस्थाओंमें और सभी समय बना रह सकता है । उसमें न एकान्त स्थानकी आवश्यकता है, न एकान्त समयकी । परम स्वतन्त्रतासे वह हो सकता है, रह सकता है । अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा था—'तुम मनसे मुझमें मिले रहो और शरीरसे युद्ध करो ।' अतएव शरीर घरमें रहे, घरके काममें रहे—मन भगवान्‌के पास सदा रहे या मनमें केवल भगवान् ही सदा बसे रहें ।

× × × ×

भगवान्‌को सर्वसमर्पण करनेके बाद मनुष्य निश्चय ही भगवान्‌की वस्तु हो जाता है । फिर भगवान् उसे अधिकारपूर्वक अपने इच्छानुसार बरतते हैं । इस प्रकार जो भगवान्‌की वस्तु हो जाता है और भगवान् जिसे इच्छानुसार बरतते हैं, उसीका जीवन धन्य है । फिर उसे न तो कुछ पानेकी चिन्ता रहती है न सोचनेकी ही कोई बात उसके लिये रह जाती है । उसके लिये सोचना, करना-कराना—सब प्रभु अपने जिम्मे ले लेते हैं । वह तो सर्वथा निश्चिन्त और योगक्षेमकी कल्पनाको छोड़कर नित्य-निरन्तर प्रभुके मधुर चिन्तनमें ही लगा रहता है । वह धन्य है ।

× × × ×

भगवान्‌का स्वभाव एवं विरद है—'जो उनका हो जाता है, उसे सदाके लिये अपनाकर वे स्वयं उसके बन जाते हैं ।' भूलना, त्यागना, हृदयमें न बसना, न बसाना—ये सब तब रहते ही नहीं । भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा है—'ऐसे प्रेमी भक्त मेरा हृदय होते हैं, मैं उनका हृदय होता हूँ । वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता ।' जब वे स्वयं ही हृदय हो जाते हैं और भक्त प्रेमीको अपनाकर अपना हृदय बना लेते हैं, तब त्यागकी तो कल्पना ही नहीं । वे उस प्रेमीके पराधीन हो जाते हैं । उसके मनमें अपने मनका प्रवेश कराकर एक-मन, एक-प्राण हो जाते हैं । यही प्रेमका आदर्श है । भगवान् इसमें कोई विलक्षण बात नहीं करते, उनका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है । वे जिसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, वह चाहनेपर भी फिर उनसे अलग नहीं हो सकता । उसे तो वहाँ सदाके लिये बँधे रहना पड़ता है । यों प्रेमी और प्रेमास्पद भगवान् एक-दूसरेके द्वारा बाँधे जाते हैं और एक दूसरेको बाँध लेते हैं । यह बन्धन बड़ा ही अनोखा एवं मधुर होता है, अतएव इससे मुक्ति न भगवान् चाहते हैं, न प्रेमी चाहता है ।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

१–भक्तिकी आवश्यकता

जीवकी ब्रह्मभावापत्ति मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न हैं, तब जीवोंकी ब्रह्मभावापत्तिमें बाधा क्या है? सच तो यह है कि जीवोंका जन्म-मरणरूप संसार सहज नहीं है, त्रिगुणात्मक अन्तःकरणकी उपाधिके कारण है—ठीक वैसे ही, जैसे जपाकुसुमके सांनिध्यसे स्फटिकमें लालिमा। भक्तिदर्शनका यह कहना है कि औपाधिक होनेके कारण ही केवल ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती। (आरोप्य जहाँ असंनिहित होता है, वहाँ अधिष्ठानके ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जाता है; परंतु जहाँ वह संनिहित होता है, वहाँ ज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं हो सकता, जैसे जपा-कुसुमकी स्फटिकगत लालिमा। वह स्फटिकके ज्ञान-मात्रसे निवृत्त नहीं हो सकती।) उसकी निवृत्ति उपाधि अथवा उपाधेय—दोनोंमेंसे एककी निवृत्ति होनेपर अथवा सम्बन्धकी निवृत्ति होनेपर ही हो सकती है। उपाधिका संयोग रहनेपर चाहे कितना भी उच्चकोटिका दर्शन हो, स्फटिककी लालिमाका भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता। अब इस प्रसङ्गपर दृष्टि डालिये, क्या सर्वसत्ता-स्फुरणात्मक परमात्मा मिट सकता है? क्या उपाधि और उपाधेयके स्वरूपतः अभिन्नत्वरूप सम्बन्धकी निवृत्ति होना शक्य है? अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपाधिकी निवृत्तिसे ही भ्रमकी निवृत्ति शक्य है, केवल आत्मज्ञानसे नहीं। उपाधि-हानके लिये कुछ दूसरा उपाय करना चाहिये। वह क्या है? ईश्वर-भक्ति। वह अलौकिक होनेके कारण प्रत्यक्ष-अनुमान आदिके द्वारा साध्य नहीं है, श्रुति-स्मृति-प्रमाणसे सिद्ध है। गीता (अध्याय १४) में सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको बन्धनका हेतु बताया गया है। साथ ही भक्तियोगके द्वारा गुणातिक्रमण और ब्रह्मभावापत्तिका भी निरूपण है। इस प्रकार स्वयं भगवान् ही अपनी भक्तिको त्रिगुणात्मक अन्तःकरणके लयके अनन्तर ब्रह्मभावापत्तिरूप मुक्तिका हेतु बतलाते हैं। (स्वप्नेश्वर-भाष्य)

२–क्या आत्मज्ञान व्यर्थ है?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आत्मज्ञान व्यर्थ नहीं है, भक्तिमें उपयोगी है। यह अश्रद्धारूपी मलका प्रक्षालन कर देता है। ज्ञानसे अन्तःकरण-रूप उपाधिके धर्मका अध्यास दूर नहीं हो सकता; क्योंकि यह उपाधि जैसे ज्ञानके पूर्व अपरोक्ष है, वैसे ही ज्ञानके अनन्तर भी अपरोक्ष रहेगी। अतः भगवद्भावके अधिगमके लिये त्रिगुणात्मक उपाधिसे परे जो तत्त्व है, उसका ज्ञान अपेक्षित है। ज्ञान संशयको काटता है—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' (गीता)। भक्तिदर्शनके मतमें संसार अज्ञानकृत नहीं है। यदि अज्ञानकृत होता तो ज्ञानसे निश्चय ही निवृत्त हो जाता। संसारका कारण अभक्ति है। अतएव भक्तिके द्वारा अभक्तिके दूर होनेपर संसारकी निवृत्ति हो जाती है। पराभक्ति ही जीवन्मुक्ति है। विष्णु-पुराणमें कहा गया है—

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथासुखम्।
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम्॥

(१। ९। ७३)

'हे प्रभो! जबतक निखिलपापापहारी आपकी शरणमें यह जीव नहीं आता, तबतक आर्ति, वाञ्छा, मोह और दुःख बने रहते हैं।' और भी कहा गया है कि 'जन्मोंकी परम्परा, यमकिंकरोंके द्वारा घोर यातना, विविध प्रकारके दैन्य, यमराजका बार-

बार भयंकर दर्शन और अहंता-ममताकी लहरियोंसे युक्त मृगतृष्णाके जल—ये सब जीवको इस कारण प्राप्त हो रहे हैं कि वह भगवान्‌के चरणारविन्दसे विमुख हो रहा है।'

जन्मानि घोरयमकिंकरताडनानि
दैन्यानि तानि तपनात्मजदर्शनानि।
जन्तोरहंममतरंगकुरङ्गतृष्णाः
कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजपराङ्मुखतानुभावः॥

इसके अतिरिक्त भक्ति-सिद्धान्तमें सत्य परमेश्वर और उनकी सत्यशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण प्रपञ्चको सत्य ही माना जाता है। यह संसार ईश्वरका संकल्प है और ईश्वर सत्यसंकल्प है। इसी प्रकार सुखादिकी उपलब्धि भी अन्तःकरणके द्वारा ही होती है। ऐसी स्थितिमें केवल आत्मज्ञानसे ही मुक्ति न होकर भक्तिसे प्राप्त होती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ दर्शन 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान होते हैं—जैसे पूर्वमीमांसा, सांख्य एवं योग। पहलेमें त्वं-पदार्थ कर्ता धर्मानुष्ठान कैसे करे, इसका निरूपण है। उसमें ईश्वरकी चर्चा नहीं है। ईश्वर हो, न हो, जीवके द्वारा अनुष्ठित कर्म 'अपूर्व' उत्पत्तिके द्वारा अपना फल दे लेते हैं—फल चाहे इस लोकमें मिले, चाहे परलोकमें, इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें। यह एक बहिरङ्ग दर्शन है। सांख्यदर्शन विवेक-प्रधान है। वह दृश्यसे द्रष्टाको विविक्त कर लेता है। इस दर्शनमें भी द्रष्टा और दृश्य—दो ही विभाग होनेके कारण ईश्वरका विशेष निरूपण नहीं है। यह 'त्वं'-पदार्थको कर्तृत्वसे मुक्त कर लेता है। योगदर्शन चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाके स्वरूपावस्थानका प्रतिपादन करता है। वृत्तियोंके निरोधकी प्रक्रियामें 'तत्'-पदार्थरूप ईश्वरका निरूपण किया गया है; परंतु वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर वहाँ भी ईश्वरकी उपयोगिता नहीं रहती। समाधिके साधन, विभूतियाँ और अन्तमें कैवल्य! कैवल्य 'त्वं'-पदार्थका ही होता है। अतः ये तीनों दर्शन 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान हैं।

न्याय और वैशेषिक 'तत्'-पदार्थका प्रतिपादन करते हैं। भक्तिदर्शन मुख्यरूपसे उन्हींके द्वारा प्रतिपादित परमेश्वरको स्वीकार करके भक्तिविषयक मीमांसा करता है। यह श्रौत होनेके कारण द्रव्यों, परमाणुओं अथवा दूसरे पदार्थोंके अनुसंधानमें न लगकर भगवान् और भक्तिका ही वर्णन करता है। यह दर्शन भी 'तत्'-पदार्थ-प्रधान ही है। अतः यह 'त्वं'-पद-वाच्यार्थ एवं 'तत्'-पद-वाच्यार्थमें एक लक्ष्यार्थका निरूपण करके शांकर वेदान्तके समान अद्वैत तत्त्वका निरूपण नहीं करता। जिन आचार्योंने वेदान्तदर्शनकी 'तत्'-पदार्थ-प्रधान व्याख्या करके उसमें भक्तिदर्शनके समान ही भगवान् और भक्तिका प्रतिपादन किया है, उनकी कथा दूसरी है। भक्तिदर्शन भगवान्‌में भक्तिपूर्वक बुद्धिका लय हुए बिना संसारकी निवृत्ति नहीं मानता। अतः इसके मतमें आत्मज्ञान संसारका निवर्तक नहीं, केवल अन्तःकरणके अश्रद्धा, संशय आदि मलोंके क्षालनमें ही उपयोगी है। जैसे कोई मनुष्य जब किसी सम्राट्‌से मिलनेके लिये जाता है, तब क्षौर, स्नान, सद्वस्त्रधारण, अलंकरण, संस्करण आदिके द्वारा अपनेको सज्जित करके उसके सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार जीव जब ईश्वरके सम्मुख उपस्थित होता है, तब प्रमाद, आलस्य, अशान्ति, क्रोध, लोभ, औद्धत्य, अभिमान आदिका परित्याग करके—क्योंकि ये आत्मधर्म नहीं हैं, सङ्गदोषसे आगन्तुक हैं—अपने सहज, निर्मल स्वरूपसे ही प्रपन्न—शरणागत होता है। यही आत्मज्ञानका उपयोग है।

३–क्या जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीवकी ब्रह्मभावापत्ति 'मुक्ति' है । प्रश्न यह है कि यदि जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं तो जीव, जो ब्रह्मसे भिन्न है, ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? इस सम्बन्धमें भक्तिदर्शनका यह दृष्टिकोण है कि वस्तुतः जीव और ब्रह्म अनेक नहीं, एक ही हैं । उपाधिके योगसे नानात्व है और उपाधिके हानसे एकत्व है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति भक्तिदर्शनको मान्य है । जैसे जलमें सूर्य अथवा चन्द्रमाके अनेक प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वैसे ही उपाधिके कारण ब्रह्म भी अनेक दीखता है । जब पराभक्तिसे जीवकी उपाधि बुद्धिका प्रहाण हो जाता है, तब जीव ब्रह्म ही है । दर्पण आदिकी उपाधि हटा देनेपर प्रतिबिम्ब भी प्रकाशात्मा आदित्य ही है (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ३ । २ । १)

यदि यह माना जाय कि जीव परमात्मासे पृथक् हैं और परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं—क्योंकि इस प्रकार माननेपर बद्ध-मुक्तिकी व्यवस्था ठीक-ठीक बैठ जाती है, तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि फिर जीवोंका परमेश्वरके साथ कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । जीवों और ईश्वरमें क्या द्रष्टा-दृश्यरूप सम्बन्ध सिद्ध हो सकेगा ? दीपकोंको एक-दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । ईश्वर ज्ञेय हो जायगा, प्रकाश्य जड हो जायगा । इसलिये यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत्-प्रकाशक-रूपसे ही चिदात्माकी सिद्धि होती है । वह भ्रम और प्रमाके अधिष्ठान रूपसे ही सिद्ध होता है । भक्तिदर्शनकी एक विशेष बात यह है कि भ्रम और प्रमा—दोनों बुद्धिमें होते हैं और बुद्धि एक सच्ची वस्तु है । अनन्य भक्तिसे बुद्धि जब ब्रह्माकार होती है, तब वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है; क्योंकि यह बुद्धि भी भजनीय ब्रह्मसे अभिन्न ही है । फिर जीवके ब्रह्मभावापन्न होनेमें कोई संशय नहीं रह जाता । अतः जीवके जन्म-मरणका कारण अज्ञान नहीं, अभक्ति है । भक्ति होनेपर जन्म-मरणकी निवृत्ति हो जाती है; साथ ही यह बात भी है कि अज्ञान किसी ठोस वस्तुका कारण नहीं हो सकता । वह तो केवल मानसिक विभ्रमोंका ही हेतु हो सकता है । (शा० भ० ३ । २ । २)

४–क्या बुद्धि और दृश्य-प्रपञ्च मिथ्या हैं ?

सगुण-ब्रह्मविद्यामें परब्रह्म परमात्मा परमैश्वर्यशाली है । वह स्वभावसे ही अनेकानेक चित्र-विचित्र शक्तियोंसे युक्त है । उसका पारमैश्वर्य अबाधित है । उसमें यह सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्च वैसे ही रह रहा है, जैसे घरमें बर्तन और बर्तनमें वस्तु । ब्रह्ममें शक्ति और शक्तिमें प्रपञ्च । यह शक्ति और शक्तिमान् दोनों मिलकर ही जगत्के कारण होते हैं । अतः इस दर्शनके दृष्टिकोणसे चेत्या प्रकृति और चिद्ब्रह्म—दोनों ही सत्य हैं; तीसरी कोई वस्तु नहीं है । (शा० भ० २ । १ । १४) विशेष यह है कि ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण चेत्या प्रकृति और उसके विलास मिथ्या नहीं हैं ।

'शक्तित्वान्नानृतं चेत्यम् ।'

(शा० भ० २ । १ । १६)

अभिप्राय यह है कि जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निस्वरूपा ही होती है, वैसे ही ब्रह्मकी शक्ति भी ब्रह्मस्वरूपा ही है । इससे अद्वैत श्रुतियोंका विरोध नहीं होता; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में, कारण और कार्यमें जो अभेद है, उसीमें श्रौत-अद्वैतका तात्पर्य है ।

५–वेद पौरुषेय हैं ?

भक्ति-सिद्धान्तमें तीन प्रमाण माने जाते हैं । जैसे रुद्रके तीन नेत्र हैं, विराट्के तीन चिह्न हैं—सूर्य,

चन्द्रमा और अग्नि, वैसे ही भक्तिदर्शनमें शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष—तीन प्रमाण स्वीकृत हैं (३ । २ । ७)। भक्तिदर्शनका मुख्य प्रमेय परमेश्वर है और यह सम्पूर्ण प्रपञ्च उससे भिन्न नहीं है; क्योंकि सब कुछ शक्ति-शक्तिमान्‌का ही स्वरूप है। शक्ति माया है और वह जड एवं सामान्य है। वह नित्य ज्ञेय ही है, अतः उसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जितने भी व्याप्य हैं, उनमें व्यापक एक ही है; अतः ईश्वर ही सारी सृष्टिका मूल कारण और निर्माता है। सारी बुद्धियाँ भी उसीमें हैं। किसी प्राणीकी बुद्धिसे सृष्टि-निर्माण नहीं किया जा सकता। वही ईश्वर धर्माधर्मके अनुसार चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करके उनकी भलाईके लिये वेदोंका निर्माण करता है। जैसे पिता पुत्रोंका उत्पादन करके उन्हें उनके हितका ज्ञान और उनके द्वारा अहितका परिहार करानेके लिये उन्हें शिक्षा देता है, वैसे ही परमात्मा भी जीवोंको इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके लिये श्रुतिका निर्माण करता है।

कर्मोंका फल भी ईश्वर ही देता है। इस सम्बन्धमें उत्तरमीमांसाके साथ भक्ति-मीमांसाका मतैक्य है। पूर्वमीमांसामें कर्म अपूर्वोत्पादनद्वारा स्वयं अपना फल दे लेता है—ऐसा माना गया है, चाहे ईश्वर हो या न हो। भक्तिदर्शन ईश्वर-प्रधान है। इसका सिद्धान्त है कि जैसे राजा अपने रोष-तोषके द्वारा निग्रहानुग्रह करता है, वैसे ही परमेश्वर भी। भक्तिसिद्धान्तमें यदि वेदको अनिर्मित मान लिया जाय तो वह ईश्वरसे भिन्न एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें सिद्ध हो जायगा, जो भक्तिदर्शनको इष्ट नहीं है। परंतु वेदके पौरुषेय होनेका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह किसी जीवकी रचना है। जीवमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है, अतः वेद ईश्वर-रचना होनेपर भी अपौरुषेयके समान ही निर्दोष और प्रामाणिक है।

६–भक्ति वेदप्रतिपाद्य है।

शाण्डिल्यने स्वयं कहा है—

'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः।' 'पुराणेतिहासाभ्यां च।'
(१ । २ । ९–१०)

—इसका अभिप्राय है कि ईश्वरने स्वयं अपनी वाणी-रूप श्रुतिके द्वारा आज्ञा की है कि श्रुति तथा इतिहास-पुराणोंसे भक्तिका स्वरूप जानना चाहिये। इन सूत्रोंकी व्याख्यामें नारायणतीर्थने ऋग्वेदके ऐसे अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं, जिनमें नामस्मरण, श्रवण-कीर्तन, भगवदर्पण, शरणागति, भगवत्प्रसाद, आत्मसमर्पण आदिका वर्णन है। उनके अनुसार वेदोंमें न केवल साधनरूपा श्रवण-कीर्तनादि-लक्षणा भक्तिका ही वर्णन है, अपितु भावमयी, रागात्मिका, रसमयी भक्तिका भी वर्णन है। ऋग्वेद (६ । १ । ५)में परमेश्वरका रक्षक एवं माता-पिताके रूपमें वर्णन मिलता है। ऋग्वेद (८ । ९८ । ११) में अत्यन्त भक्तिभावके साथ उनका माता-पिताके रूपमें स्मरण किया गया है। वहाँ इन्द्रको पिता ही नहीं, पितृतम एवं श्रेष्ठ सखाके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। किसी-किसी मन्त्रमें ऐसे अनुरागका वर्णन है, जैसे पत्नी अपने प्राणनाथ पतिदेवका आलिङ्गन कर रही हो—

'परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्।'
(१० । ४३ । १)

ऋग्वेद (१० । ४० । २) में तो परमेश्वरके प्रति प्रेयसी-प्रियतमभावकी पराकाष्ठा ही कर दी गयी है। ऐसा लगता है, मानो परकीया भावसे उपासनाका वहीं बीज हो।

७–भक्ति क्या है ?

सभी भक्तिदर्शन तात्पर्यतः परमेश्वरके प्रति परमानुरक्तिको ही 'भक्ति' कहते हैं। नारदने भक्तिका रूप 'परमप्रेम' और स्वरूप 'अमृत' कहा है। शाण्डिल्यने अमृतको फल कहा है। अङ्गिराने स्नेह, प्रेम एवं

श्रद्धाके अतिरेकसे ईश्वरके प्रति अलौकिक अनुरागको ही 'भक्ति'की संज्ञा दी है। अज्ञातकर्तृक भक्तिमीमांसामें भक्तिको मनके 'उल्लास-विशेष'का नाम दिया गया है। ये आचार्य भक्तिको भाव कहना पसंद नहीं करते। उनके मतमें रसकी समग्र सामग्रीसे भक्तिका आविर्भाव होता है, इसलिये वह रस ही है। वह जन्य नहीं है, स्वयं उल्लसित रस है। स्वामी श्रीहरिहरानन्दारण्य भक्तिके दो भेद मानते हैं। जिसमें सुखोपलब्धि होती है, वह 'अपरा भक्ति' है और जिसमें शान्ति होती है, वह 'परा'। अपरा भक्तिसे परा भक्ति निष्पन्न होती है। दृढ़ रतिसे अन्यके प्रति वैराग्य हो जाता है और केवल भजनीयके स्वरूपकी ख्याति होकर उसमें निष्ठा हो जाती है। यह परा भक्ति है और इसीसे शाश्वती शान्ति मिलती है।

यह भक्ति ज्ञानरूपा नहीं है; क्योंकि जिसका ज्ञान हो, उसकी भक्ति हो—यह नियम नहीं है। किसी-किसीका ज्ञान होनेपर उससे द्वेष भी हो जाता है। अनुराग द्वेषका विरोधी है। ज्ञान राग और द्वेष दोनोंमें अनुगत है। अनुरागीपर भगवान्‌की कृपा होती है और उसे पूर्ण निःश्रेयसकी प्राप्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रयोजनकी पूर्तिके लिये भक्ति सर्वथा समर्थ है। जिन लोगोंका यह कथन है कि भक्ति एक क्रिया है और उससे प्राप्त होनेवाला फल अनन्त नहीं हो सकता, उनका वैसा आक्षेप यथार्थ नहीं है; क्योंकि भक्ति प्रयत्नानुविधायिनी नहीं है। संसारमें स्त्री-पुत्र-मित्रविषयक प्रेम भी प्रयत्नपूर्वक नहीं किया जाता, स्वाभाविक ही हो जाता है; फिर ईश्वरविषयक भक्तिका तो कहना ही क्या है। अतएव उसका फल न उत्पाद्य होता है न विनाश्य। वह भी ज्ञानके समान ही पहलेसे विद्यमानको ही आविर्भूत करती है, निर्माण नहीं करती। इसीसे गीतामें ज्ञानवान्‌की प्रपत्तिका निरूपण है—देखिये (७। १९)। वास्तविकता यह है कि बिना भक्तिके धर्म, योग और ज्ञान भी सम्पुष्ट नहीं होते। उन्हें भी भक्तिकी अपेक्षा होती है। गीतामें ही कर्मी, ज्ञानी और योगियोंसे भक्तको श्रेष्ठ बताया गया है। जहाँ-जहाँ भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति कही गयी है, वहाँ-वहाँ देव-भक्तिमें तात्पर्य है।

किसी-किसीका यह आक्षेप है कि राग अविद्याकी वंश-परम्परामें है और वह एक क्लेश है; परंतु वह सिद्धान्त केवल संसार-रागके सम्बन्धमें है। भक्ति परमेश्वर-विषयक राग है। इसमें केवल वृत्ति-निरोध करना होता अथवा द्रष्टाको अपने स्वरूपमें स्थित होना होता, तो उनका आक्षेप सत्य होता। यहाँ तो सम्पूर्ण विश्वसहित बुद्धिको परमेश्वरमें लीन होना है और वह भी अपने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणमें। इसलिये उत्तमास्पद, कारणास्पद, ईश्वरास्पद राग होनेके कारण उपाधिविलयके द्वारा वह मोक्षका हेतु है। कोई भी राग या सङ्ग इसलिये त्याज्य नहीं है कि वह राग या सङ्ग है; वह संसारानुबन्धी होनेके कारण ही त्याज्य होता है।

भक्ति कर्माङ्ग भी नहीं है; क्योंकि परोक्षफलक स्वर्गादि-साधनके अनुष्ठानके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, उसके लिये ईश्वर-भक्तिकी आवश्यकता नहीं है। कहीं-कहीं एक ही साथ 'श्रद्धा-भक्ति-समन्वित' ऐसा उल्लेख मिलता है। 'श्रद्धावान् भजते'—ऐसा गीतामें भी है।

८—भक्तिकी पहचान

प्रतितन्त्र सिद्धान्तोंका खण्डन कर देनेपर और समानतन्त्रोंका समन्वयकी दृष्टिसे आलोचन करनेपर निर्विवादरूपसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वरमें परमानुराग ही 'भक्ति' है। परंतु परमानुराग एक स्वसंवेद्य वस्तु है, उसको दूसरा कोई नहीं पहचान

सकता। ऐसी स्थितिमें सहज ही यह प्रश्न उठता है कि उसकी व्यावहारिक पहचान क्या है।

(क) पराशरनन्दन व्यासका अभिमत यह है कि पूजा (वित्तजा, तनुजा और मानसी) आदिमें अनुराग होना भक्तिका लक्षण है। जिससे प्रेम होता है, उसकी सेवाके रूपमें वह अभिव्यक्त होता है।

(ख) गर्गाचार्यका मत है कि जिससे प्रेम होता है, उसके चरित्र, नाम, गुण आदिका श्रवण-वर्णन और उनको गुनगुनाना प्यारा लगता है। ईश्वर-भक्तिकी भी यही पहचान है।

(ग) शाण्डिल्य ऋषिका कथन है कि परम प्रियतम ईश्वरकी जो भी वस्तु अपनेको प्यारी लगे, उसीमें रम जाना भक्तिका लक्षण है।

(घ) भरद्वाज कहते हैं कि परमानन्दमें मग्न होकर परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करना भक्ति है; अर्थात् जिससे जिसका प्रेम होता है, वह उसकी महिमाका ख्यापन करता है।

(ङ) कश्यपका मत है कि अपने सभी कर्म भगवान्‌के प्रति अर्पण करना भक्तिका लक्षण है। इसका अर्थ यह है कि भक्त जो कुछ भी करे, भगवान्‌की प्रसन्नता और सेवाके लिये। इसमें कर्मका नियम नहीं है। शौच-स्नानादिके द्वारा भी अपनेको शुद्ध करके परमेश्वरके सम्मुख होना भक्ति है।

(च) श्रीकृष्ण, शुकदेव, प्रह्लाद एवं वसिष्ठादि ऋषियोंका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण जगत्‌को भगवद्रूप समझकर उसकी सेवा करना भक्तिका लक्षण है।

(छ) देवर्षि नारद कहते हैं कि अपना समग्र आचरण प्रभुको अर्पित कर दे और यदि कभी भगवद्विस्मरण हो जाय तो परम व्याकुलताका उदय हो।

(ज) व्रजवासियोंका मत है कि अपनी मति, रति, गति, जीवन एवं प्राणोंको भगवान्‌में लीन कर देना ही भक्ति है।

ये सभी लक्षण अन्ततः अन्तःकरणरूप उपाधिको जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, अचिन्त्य-अनन्त-कल्याणगुणगणनिलय, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरमें लीन कर देते हैं। इसलिये सभी भगवद्भक्तिके ही विशेष विलास एवं अनुभाव हैं।

९—भक्ति कैसे मिले ?

इसमें संदेह नहीं कि भक्ति-सिद्धान्तका सर्वस्व ईश्वर ही है। जीव और जगत् उससे अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें ईश्वरके अथवा उससे अभिन्न भक्तजनों-के अनुग्रहके बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती; परंतु यह अनुग्रह प्राप्त करना जीवके पौरुषके वशमें नहीं है। अतः साधनके रूपमें अनुग्रहकी गणना नहीं की जा सकती। जीव केवल इतना ही कर सकता है कि वह इस अनुग्रहकी प्रतीक्षा करे, आकुल-व्याकुल अन्तरसे। दूसरी बात यह हो सकती है कि क्षण-क्षण और कण-कणमें अनुग्रहका ही समीक्षण किया जाय। यह प्रतीक्षा और समीक्षा जीवकी ओरसे की जाती है। अतः इसका साधन-कोटिमें संनिवेश हो जाता है। इसीसे देवर्षि नारदने महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा-लेशसे भक्तिकी प्राप्ति बतलायी है।

स्वधर्मका निष्काम आचरण करके उसके द्वारा भगवान्‌की आराधना उनके संतोषका हेतु है। योगाभ्यासके द्वारा विषयाभिमुख मनको लौटाकर ईश्वरके सम्मुख करना भी भक्तिका हेतु है। विनय और दैन्यके द्वारा अपने अहंको अत्यन्त क्षीण कर देनेपर भी अन्तःकरणमें भगवान्‌का आविर्भाव हो जाता है। भक्ति-सिद्धान्तमें मुख्य बात यह है कि

विषयभोग और आसक्तिका परित्याग करके निरन्तर भगवद्भजन करनेसे भगवान्के आनन्दरसात्मक स्वरूपका आविर्भाव होकर वह अन्तःकरण-वृत्तिको भगवदाकार बना देता है, यही भक्ति है। रस है—परमेश्वर। रसात्मिका वृत्ति है—भक्ति। भजन अर्थात् रसास्वादन—ऐसा रसास्वादन, जिसमें भोक्ता, भोग और भोग्यकी त्रिरूपता भङ्ग हो जाय। क्या भोग्य है और क्या भोक्ता—इसका पता ही न चले। ऐसी भक्ति प्राप्त करनेके लिये अङ्गिरा ऋषिने सात भूमियोंके अवलम्बनकी चर्चा की है।

(अ) भगवान्के नामका आश्रय—मन्त्र वे होते हैं, जिनकी ध्वनिका सम्बन्ध अधिदैव जगत्से होता है। पूर्वमीमांसकोंने तो यहाँतक माना है कि देवता नामका कोई अर्थ और जाति न होनेपर भी मन्त्रोच्चारण-समकाल ही देवताकी उत्पत्ति हो जाती है। परंतु उपासना-शास्त्रके अनुसार देवताका वास्तविक अस्तित्व होता है। भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। परंतु भगवान्का नाम उस कोटिका नहीं है। भगवान्का नाम जीवोंके कल्याणके लिये उन्हींका एक आविर्भाव-विशेष है। नाम ब्रह्म है। जो भगवान् हैं, वही नाम है। इस प्रकार नामका आश्रय लेकर उसके कीर्तन, जप, श्रवण, ध्यान, स्मरण आदिके द्वारा उसको अपने हृदयमें उतारा जाता है। नामाकारवृत्तिमें नाम स्वयं भगवान् हैं और प्रीतिमयी वृत्ति साक्षात् भक्ति है। नामकी स्वयंप्रकाशता ही भक्तिकी स्वयंप्रकाशता भी है।

(आ) रूपका आलम्बन—यद्यपि भगवान्के नाम और रूपमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, तथापि साधनकी दृष्टिसे नाम कर्मभूमिमें अवतीर्ण होकर साधकका कल्याण करता है और रूप ज्ञानभूमिमें। वाक् कर्मेन्द्रिय है और नेत्र ज्ञानेन्द्रिय। इस दृष्टिसे नामकी अपेक्षा रूपका सूक्ष्मभूमिमें प्रारम्भ होता है। इसमें संदेह नहीं कि नाम रूपके बिना भी भगवत्स्वरूपको प्रकट करनेमें समर्थ है तथापि सामान्यरूपसे नाम प्रकाशक और रूप प्रकाश्य है। जैसे बाह्य वस्तुके दर्शनके लिये रूप प्रमेय है और नेत्र प्रमाण, वैसे ही भक्तिराज्यमें भगवद्रूप प्रमेय है और नाम नेत्रस्थानीय प्रमाण। आप नामको दुहराइये, हृदयमें रूपका दर्शन होने लगेगा। रूपमें प्रीति और तन्मयता, तन्मयतासे उपाधिका विलय और भगवान्से एकता। इस प्रकार रूपका आलम्बन अन्तःकरण-वृत्तिको परमेश्वरमें लीन कर देता है। उपाधिके लीन हो जानेपर आत्मा-परमात्मामें भेद करनेवाली कोई वस्तु नहीं रह जाती।

(इ) विभूतिका दर्शन—गीताके दसवें अध्यायमें योग और विभूतिका वर्णन है। योग है हृदयमें ध्यान और विभूति है व्यवहारदशामें प्रत्येक वस्तुको भगवद्भावसे परिपूर्ण देखना। दोनों दशाओंमें परमात्माका दर्शन होनेसे अविकम्प योग अर्थात् भगवान्में अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। इसके लिये जन-जनमें, कण-कणमें, क्षण-क्षणमें भगवान्की विभूतियोंका दर्शन करना आवश्यक है। इस प्रकारकी सावधानी उपाधिको तन्मय कर देती है और जीव भगवान्से मिल जाता है।

(ई) सर्वत्र भगवान्की शक्तिका चिन्तन—जैसा कि गीतामें कहा गया है, आदित्यमें तेज, चन्द्रमामें आह्लादन एवं अग्निमें दाहन आदिकी जितनी शक्तियाँ हैं, सब परमेश्वरकी ही हैं। पृथिवीमें धारण, जलमें आस्वादन, वायुमें प्राणन एवं आकाशमें अवकाशदान—सब परमात्माका ही है। इस प्रकार जगत्की समग्र स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंमें भगवद्भावका चिन्तन करनेसे मन परमात्मामें लीन हो जाता है।

(उ) गुणोंका दर्शन—इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चमें जो कुछ है, वह सब त्रिगुणमयी भगवच्छक्तिका विलास है। जो कुछ तमोगुणी मूढद्रव्य, रजोगुणी स्पन्दन और सत्त्वगुणी ज्ञानप्रकाश है—सब भगवान्‌के आश्रित और उनके द्वारा नियन्त्रित ही हैं। जब जीवकी दृष्टि गुणोंकी सीमा पार करके गुणाधार, गुण-नियन्ता, गुण-प्रकाशक, गुणोपादान, गुणविलासी परमेश्वरका दर्शन करने लगती है, तब सब गुण परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं और जीव सगुण ईश्वरमें समाधिस्थ हो जाता है।

(ऊ) परमात्मभावकी भावना—जो कुछ ज्ञात होता है और जो कुछ प्रिय लगता है, वह सब सच्चिदानन्दात्मक परमेश्वरका ही भावोन्मेष है। अतः समग्र वस्तु, ज्ञान और प्रियताके रूपमें परमेश्वरकी भावना महाभाव-समाधिका हेतु है। इससे आकारकी भिन्नता, वृत्तियोंकी अनेकता और प्रियकी विविधता समाप्त हो जाती है। सबमें एकताका स्फुरण होने लगता है। यह एकता जीव और ईश्वरके बीचके व्यवधानको गला देती है।

(ऋ) स्वरूपकी अनुभूति—यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जीव और ईश्वरके स्वरूपमें वस्तुतः भेद नहीं है, केवल बुद्धिकी उपाधि ही भेद उपस्थित करती है। जब बुद्धिमें स्वरूपकी एकता आरूढ़ हो जाती है, तब वह अपनेको पृथक् नहीं दिखाती। ऐसी अवस्थामें प्रभु और प्रभुकी शक्तिके सिवा और कुछ शेष नहीं रहता। इस एकरस अनुभवमें समाधि और व्यवहार एक हो जाते हैं।

यहाँतक यह कहा गया कि भक्तिका प्रत्येक अङ्ग साधन भी है, फल भी है। भक्ति स्वयं फलरूपा है—ऐसा सनत्कुमार, नारद, शाण्डिल्य—सबका मत है। सम्पूर्ण फलोंके फल हैं—भगवान्। जहाँ वृत्ति उनसे एक हो जाती है, वहीं वह भक्ति हो जाती है। भक्ति चाहे जैसे भी मिले, भक्तिमें आग्रह है, साधनमें नहीं।

(क्रमशः)

प्रभु-मूरति कृपामई है

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घर के।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुबर के॥
ज्यों नासा सुगंध-रस-बस, रसना षटरस रति मानी।
राम प्रसाद माल-जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी॥
चंदन, चंदबदनि-भूषन-पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो॥
ज्यों सब भाँति कुदेव-कुठाकुर सेये बपु-बचन-हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य, जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भए न स्रमित अभागे॥
सकल अंग पद-बिमुख, नाथ! मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहि परतीति एक, प्रभु-मूरति कृपामई है॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

गीताका भक्तियोग

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ ९०८से आगे]

सम्बन्ध

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया और तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्तिकी बात कही। अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद और कठिनता एवं सुगमतामूलक तारतम्य आगे तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं।

श्लोक

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ

यहाँ भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकारके उपासकोंकी अपनी-अपनी उपासनामें रुचि, श्रद्धा, वैराग्य और इन्द्रिय-संयम आदिकी दृष्टिसे लक्ष्य-प्राप्तिमें योग्यता समान होते हुए भी निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपने साधन-में परिश्रम और कठिनाई अधिक प्रतीत होगी तथा लक्ष्य-प्राप्तिमें भी अपेक्षाकृत विलम्ब होगा। जितना-जितना देहाभिमान नष्ट होता जायगा, उतना-उतना ही साधक तत्त्वमें प्रविष्ट होता जायगा और उसका क्लेश कम होता जायगा। देहाभिमानी निर्गुण-उपासक अपने विवेकका आश्रय लेकर ही साधन करते हैं तथा उनका लक्ष्य निर्गुण-निराकार होनेसे चिन्तनका कोई आधार नहीं रहता। इसलिये उनकी मन-बुद्धिको निराकार-तत्त्वमें स्थित होनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। यद्यपि सगुण-उपासकोंमें भी उसी मात्राका देहाभिमान रहता है, उनकी मन-बुद्धिके लिये ध्यानका विषय भगवान्‌का सगुणरूप होनेसे तथा भगवान्‌के ऊपर ही निर्भर रहनेसे उन्हें साधन क्लेशयुक्त नहीं प्रतीत होता। भगवान्‌की लीला, गुण, प्रभाव आदिका चिन्तन, कथा और जप-ध्यान आदिमें उनकी मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके तल्लीन होनेके कारण उनको सुख प्रतीत होता है। इसी दृष्टिसे यहाँ यह कहा गया है कि निर्गुण-उपासकोंको साधनामें अपेक्षाकृत अधिक क्लेश होता है।

अन्वय

तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम्, क्लेशः, अधिकतरः, हि, देहवद्भिः, अव्यक्ता, गतिः, दुःखम्, अवाप्यते ॥ ५ ॥

तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् (उन निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले) [साधकोंके साधनमें]

'अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले' विशेषणसे यहाँ उन साधकोंकी ओर संकेत किया गया है, जो निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा आविष्ट नहीं हुआ है। तत्त्वमें सर्वथा आविष्ट होनेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—(१) रुचि, (२) विश्वास और (३) योग्यता। आसक्त चित्तवालोंकी निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ माननेके फलस्वरूप उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो गयी है और विश्वासपूर्वक वे साधना करने भी लग गये हैं, परंतु वैराग्यकी कमी एवं देहमें अभिमान होनेके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें पूरी तरह प्रविष्ट नहीं हो पाया है, ऐसे साधकोंके लिये ही 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका प्रयोग हुआ है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके २७वें और २८वें श्लोकोंमें 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है; परंतु इस श्लोकमें 'क्लेशः अधिकतरः' पदोंसे यह स्पष्ट कर दिया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी तरह

निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा प्रविष्ट नहीं हो पाया है । अतः उन्हें 'अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाला' कहा गया है। चित्त सर्वथा आविष्ट न होनेका अभिप्राय यह है कि वह अभीतक शरीर और संसारसे सर्वथा उपराम नहीं हो सका है और न अभीतक उसकी स्थिति ब्रह्ममें निश्चल भावसे हुई है ।

तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा अन्य कई स्थलोंमें भी वह प्रकृतिके लिये आया है । अतः यह प्रश्न होता है कि यहाँपर भी 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'प्रकृतिमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्नमें 'त्वां पर्युपासते', 'अक्षरम् अव्यक्तम्(पर्युपासते)', 'तेषाम् योगवित्तमाः के' (आपके सगुणरूप परमेश्वरकी और निराकार स्वरूपकी जो उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन हैं ?) कहकर 'त्वाम्' पदसे सगुण रूपका और 'अव्यक्तम्' पदसे इसके विपरीत निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है । इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने 'अव्यक्त' पदका व्यक्तरूपके विपरीत निराकार रूपके लिये ही प्रयोग किया है, प्रकृतिके लिये नहीं । अतः यहाँ प्रकृतिका प्रसङ्ग न होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ 'प्रकृति' नहीं लिया जा सकता ।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है । ऐसी दशामें प्रश्न होता है कि "यहाँ 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?" इसका उत्तर यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें 'त्वाम्' पद सगुणके लिये और 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है । 'ब्रह्म क्या है ?'—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बतला चुके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँपर भी 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है । इसलिये 'अव्यक्तम् अक्षरम्' पदोंसे जिस निर्गुण ब्रह्मकी बात अर्जुनने पूछी थी, उनके उस प्रश्नके उत्तरमें यहाँ 'अव्यक्त'पदसे वही निर्गुण ब्रह्म लिया जा सकता है, सगुण-निराकार नहीं ।

'क्लेशः अधिकतरः' (क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है)

—इस पदका मुख्यतासे यह भाव है कि जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा प्रविष्ट नहीं हुआ है, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें अपने समकक्ष साकार-उपासकोंकी अपेक्षा परिश्रम अर्थात् कठिनाई विशेष होती है; और गौण रूपसे यह भाव है कि यहाँ प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर शेष सीमातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंकी अपेक्षा कठिनता विशेष होती है ।

साधक दो तरहके होते हैं—

(१) ऐसे साधक होते हैं, जो सत्सङ्ग, विचार आदिके फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं । अतः इनको अपने साधनमें क्लेश होता है ।

(२) ऐसे साधक होते हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि होती है । इनको अपने साधनमें क्लेश नहीं होता ।

यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि 'साधक दो ही तरहके क्यों होते हैं ?' इसका समाधान यह है कि 'गीताजीमें योगभ्रष्टकी गतिके वर्णनमें भगवान् दो ही गतियोंका वर्णन करते हैं ।'

(१) उनमेंसे कुछ तो पुण्यलोकोंमें जाते हैं, वहाँके भोग भोगकर लौटनेपर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और

फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं। (गीता ६ । ४१ और ४४)

(२) दूसरे सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेते हैं और फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं। ऐसे साधकोंको 'दुर्लभतर' बतलाया है (गीता ६ । ४२, ४३ और ४५)।

उपर्युक्त विवेचनसे ऐसा जान पड़ता है कि पहली गतिवाले वे साधक हैं, जो सत्सङ्ग-विचार आदिके फलस्वरूप साधनामें लगे हैं और दूसरी गतिवाले वे साधक हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि है।

(अब नीचे सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाकी सुगमता और कठिनतापर विचार किया जा रहा है।)

सगुण-उपासनाकी सुगमताएँ—

(१) सगुण-उपासनामें मन-इन्द्रियोंको सगुण-स्वरूप तथा उसके नामजप, ध्यान, लीलाचिन्तन, कथाश्रवण आदिका आधार रहता है। भगवान्के परायण होनेसे उसकी मन-इन्द्रियाँ भगवान्के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें सरलतासे लग जाती हैं। इसलिये सांसारिक विषयचिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।

(२) सांसारिक आसक्तिसे ही साधनमें क्लेश होता है, परंतु यह साधक इसे दूर करनेके लिये भगवान्के ही आश्रित रहता है। इसे भगवान्का ही बल होता है। बिल्ली जैसे अपने बच्चेकी रक्षा स्वयं करती है, बच्चा तो केवल माँपर निर्भर रहता है, उसी तरह यह साधक भगवान्पर ही निर्भर रहता है। भगवान् ही इसकी सार-सँभाल करते हैं।

'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥'
(अरण्य० ४२ । ४-५)

अतः इसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है।

(३) आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें ऐसे उपासकोंके लिये भगवान्ने अपनेको सुलभ बतलाया है—'तस्याहं सुलभः पार्थ।' 'सुलभ' शब्द गीताजीमें एक ही बार आया है।

निर्गुण-उपासनाकी कठिनताएँ—

(१) तत्त्व निर्गुण होनेके कारण मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता और कोई आधार न रहनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना है; क्योंकि बुद्धिमान् यत्नशील साधकके चित्तको भी ये इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं (गीता २ । ६०) और विषयचिन्तनके फलस्वरूप साधक पतनके गड्ढेमें जा सकता है (गीता २ । ६२-६३)।

(२) सांसारिक पदार्थोंमें जितनी आसक्ति रहती है, उतना ही साधनमें क्लेश अधिक प्रतीत होता है। साधक उसे विवेकके द्वारा हटाना चाहता है, विवेकका आश्रय लेकर साधन करता है और इसे अपने साधनका ही बल है। बंदरीका बच्चा जैसे माँको पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है, उसी तरह यह साधक अपने साधनके बलपर ही अपनी उन्नति मानता है। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें भगवान्ने इसे अपने बड़े लड़केकी तरह बतलाया है।

'मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।'
(अरण्य० ४२ । ८)

(३) ऐसे उपासकोंके लिये गीताजीमें कहीं भी भगवान्ने अपने तत्त्वको सुलभ नहीं बताया है।

(४) ऐसे उपासकोंके लिये गीताजीमें जगह-जगह 'नचिरेण' पदसे भगवान्ने शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतलायी है (गीता ५। ६; १२। ७)।

(५) सगुण-उपासकोंके अज्ञानरूपी अन्धकार-को भगवान् ही मिटाकर तत्त्वज्ञान भी वे ही दे देते हैं (गीता १०। १०-११)।

(६) इनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता १२। ७)।

(७) ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है तो भगवान् सर्वज्ञ होनेके कारण उसे जान लेते हैं और कृपा करके हटा देते हैं (गीता ४। २२)।

(८) ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्की उपासना है और भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही। अतः भगवान्की पूर्णतामें यत्किंचित् भी संदेह न रहनेके कारण श्रद्धा सुगमतासे हो सकती है।

(९) ऐसे उपासक भगवान्को कृपालु मानते हैं, सुतरां कृपाके आश्रयसे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। इसलिये उनके लिये साधन सुगम हो जाता है और भगवत्कृपाके बलपर ही वे शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता १८। ५६-५७)।

(१०) मनुष्यमें क्रिया करनेका अभ्यास तो रहता ही है, इसलिये उसे उन क्रियाओंको परमात्माके लिये करनेमें केवल भाव ही बदलना है, क्रियाएँ तो वे ही रहती हैं। अतः उनके लिये सुगम होती हैं और भगवान्के लिये कर्म करनेसे वे कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

(४) ज्ञानयोगियोंकी लक्ष्य-प्राप्तिके सम्बन्धमें 'नचिरेण' पद गीताजीमें कहीं भी नहीं आया है। चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'नचिरेण' पद ज्ञानके अनन्तर शान्तिकी प्राप्तिके सम्बन्धमें आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके सम्बन्धमें।

(५) निर्गुण उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता १२। ४)।

(६) ये स्वयं अपना उद्धार करते हैं अर्थात् निर्गुणतत्त्वको प्राप्त करते हैं (गीता १२। ४)।

(७) ऐसे उपासकोंमें कमी रह जाती है तो उस कमीका ज्ञान होनेमें उन्हें बहुत देरी लगती है और ठीक-ठीक पहचाननेमें कठिनाई रहती है। हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर तो ये भी उसे सुगमतापूर्वक दूर कर सकते हैं।

(८) चौथे अध्यायके ३४वें और तेरहवें अध्याय-के ७वें श्लोकोंमें भगवान्ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुकी उपासनाकी आज्ञा दी है, किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धाके होनेमें कठिनता होगी तथा साधनकी सफलतामें भी देरी होनेकी गुंजाइश रहेगी।

(९) ऐसे उपासक तत्त्वको निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं। यद्यपि तत्त्व सच्चिदानन्द-घनताके अन्तर्गत आनन्दस्वरूप होनेसे कृपालु है, प्रेमास्पद है, तो भी वे उसे उदासीन माननेके कारण कृपाके अनुभव होनेमें आड़ लगा लेते हैं। अतः कृपाका अनुभव न होनेसे उन्हें अपने साधनके बलपर तत्त्वकी प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको पार करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है और इसीलिये विलम्ब होता है।

(१०) ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिके अर्पण करता है और तीव्र वैराग्य होनेसे ही क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि वैराग्यमें थोड़ी भी कमी रह गयी तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक स्वयं उनमें बँध जायगा।

(११) पदार्थोंका हृदयमें आदर रहते हुए भी वे यदि किसीके उपयोगमें आ जाते तो उन्हें त्यागनेमें कठिनता नहीं होती। सत्पात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें और भी सुगमता है तथा भगवान्‌के लिये तो वह त्याग बहुत ही सुगमतामें हो सकता है।	(११) जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका आदर है, तबतक पदार्थोंको मायामय समझकर त्यागना उसके लिये कठिन पड़ेगा।
(१२) साधनमें पूरी रुचि न होनेसे क्लेश प्रतीत होता है; परंतु साधकको भगवान्‌पर विश्वास हो जानेसे साधनमें क्लेश कम होता चला जायगा।	(१२) साधनमें पूरी रुचि न होनेसे ही क्लेश होता है। पूरी रुचि होनेसे क्लेश नहीं होता, जैसे छठे अध्यायके २८वें श्लोकमें ब्रह्मभूत साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है।
(१३) इस साधनामें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और अपनत्वकी। उदाहरणके लिये द्रौपदीकी औरोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी उसकी पुकारमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते थे; क्योंकि वह भगवान्‌को अपना मानती थी और भगवान्‌का स्वभाव है कि वे भक्तके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। भगवान् तो अपने साथ भक्तके सम्बन्ध और प्रेमको ही देखते हैं और भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना कि पात्र बनना कठिन है।	(१३) साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा और पात्र बननेके लिये विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिनको प्राप्त करना सहज बात नहीं है।

हि (क्योंकि)

देहवद्भिः (देहाभिमानियोंद्वारा)

देहवत्, देही, देहिनः और देहभृत्—इन चारों पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' लिया गया है। प्रसङ्गानुसार इनका अर्थ 'जीव' और 'आत्मा' भी लिया जाता है। यहाँपर इस पदका अर्थ 'विशेषतासे देहाभिमानी पुरुष' लेना चाहिये; क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि 'वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें अभीतक सर्वथा आविष्ट नहीं हुआ है।'

दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'देही' पद जीवात्माके लिये और ३०वें श्लोकमें 'देही' पद आत्माके लिये प्रयुक्त है। पाँचवें अध्यायके १३वें श्लोकमें 'देही' पद सांख्ययोगके ऊँचे साधकका बोधक है और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'देही' पद सिद्ध पुरुषके लिये आया है; क्योंकि लोकदृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है।

दूसरे अध्यायके १३वें और ५९वें श्लोकोंमें 'देहिनः' पद, तीसरे अध्यायके ४०वें और चौदहवें अध्यायके ५वें तथा ७वें श्लोकोंमें 'देहिनम्' पद, आठवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'देहभृताम्' पद, चौदहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'देहभृत्' पद, सत्रहवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'देहिनाम्' पद और अठारहवें अध्यायके ११वें

श्लोकमें 'देहभृता' पद सामान्य देहाभिमानी पुरुषोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अव्यक्ता गतिः (अव्यक्तविषयक गति)

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको 'अव्यक्ता गतिः' कहा है। साधारण पुरुषोंकी स्थिति व्यक्त अर्थात् देहमें होनेके कारण अव्यक्तमें स्थित होनेमें उन्हें कठिनाई पड़ती है। साधक यदि अपनेको देहवाला न माने तो अव्यक्तमें स्थिति सुगमतापूर्वक और शीघ्रतासे हो सकती है।

दुःखम् अवाप्यते (दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है)

(क्रमशः)

गांधी-जीवन-सूत्र

[संयम—मनका, तनका, वचनका]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

आजादी मिलनेके कुछ दिन पहलेकी घटना है।

गांधी मसूरीमें धूपमें चटाईपर बैठा लिख रहा था कि एकान्त पाकर हमारे जेलके साथी महावीर त्यागीने २७ साल बाद उसके पैर छू लिये।

गांधीको न तो 'महात्मा'की उपाधि पसंद थी और न पैर छुआना।

करुणाभरी आँखोंसे उसने त्यागीकी ओर देखकर कहा—'आज तूने ऐसी बेवकूफी क्यों की? पहले तो ऐसा नहीं करता था।'

त्यागी तो स्तब्ध।

लगा जैसे चोरी करते पकड़ा गया हो।

गांधीने फिर पूछा—'बोलो'।

क्षमाके स्वरमें उसने झिझकते हुए कहा—'शुभ चरणोंको साक्षी करके एक प्रतिज्ञा कर ली है, बापू!'

'वह क्या—

'बरसोंसे प्रयत्न कर रहा हूँ। आत्मबलकी कमीके कारण मेरा कोई भी प्रण, प्रतिज्ञा और व्रत सफल नहीं हो सका—

'झूठ नहीं बोलूँगा—बोलता हूँ।

'सिगरेट नहीं पीऊँगा—पीता हूँ।

'गुस्सा नहीं करूँगा—अधिकाधिक करता हूँ।

'दैनिक व्यायाम करूँगा—नहीं करता।

'साला कहनेकी आदत छोड़ दूँगा—नहीं छूटी।

'दैनिक सूत कातूँगा—नहीं कातता।

'ऐसी निर्णयविहीन आत्माको दुनियासे छिपानेके लिये परदेमें लपेटे फिरता हूँ। आज एक छोटी-सी प्रतिज्ञा की है कि जिन हाथोंसे चरण छूये हैं, उनसे किसीका अहित न करूँगा। शुभ चरणोंके प्रतापसे शायद निभ जाय।'

गांधीने 'आरपार' होनेवाली अपनी दृष्टिसे क्षणभरमें मानो त्यागीकी आत्माका एक्सरे कर लिया, फिर गर्दन हिलाकर कहा—'अच्छा व्रत लिया।'

कुछ रुककर फिर कहा—'अच्छी प्रतिज्ञा की। इसके बाद किसी दूसरी प्रतिज्ञाकी आवश्यकता नहीं। वह तो एकके साधे सब सध जाता है। तुम अपना कोट खूँटीपर टाँगो तो उसके साथ आस्तीन और जेब—सब टँग जायगी। अधिक ऊँचा करो तो अकेला कालर ही ऊँचा नहीं उठेगा, सारा कोट उठेगा। तो फिर तुम्हारा यह व्रत निभ जानेमें सम्पूर्ण आत्माको बल मिलेगा, फिर सिगरेट भी छूट जायगी। अच्छा व्रत लिया। ऐसा चरण तो रोज छू सकते हो।'

× × ×

कैसा पुनीत प्रसङ्ग!

संयम गांधीका जीवन-सूत्र था।

संयमके सम्बन्धमें गांधी कहता था—

'संयमका, ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, लगभग असम्भव माना गया है। उसके कारण ढूँढ़नेपर पता चलता है कि ब्रह्मचर्यका संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय (लिङ्ग-योनि)के विकारोंपर अङ्कुश रखना ही ब्रह्मचर्यका पालन है, ऐसा माना गया है। मुझे लगता है कि यह अधूरी और गलत व्याख्या है। सारे विषयोंपर अङ्कुश रखना ही ब्रह्मचर्य है। जो दूसरी इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देता है और एक ही इन्द्रियको रोकनेकी कोशिश करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है—इसमें क्या शङ्का है? कानोंसे विकारकी बातें सुनें, आँखोंसे विकार पैदा करनेवाली चीजें देखें, जीभसे विकारोंको उत्तेजित करनेवाली चीज़ें स्वादसे खायें, हाथसे विकारोंको बढ़ानेवाली वस्तुएँ छुयें और फिर भी जननेन्द्रियको रोकनेका इरादा कोई रखे तो यह आगमें हाथ डालकर न जलनेकी कोशिश करने-जैसा होगा। इसलिये जो जननेन्द्रियको रोकनेका निश्चय करे, उसे तमाम इन्द्रियोंको उनके विकारोंसे रोकनेका निश्चय करना ही चाहिये।'

वही बात—'कोटको खूँटीपर टाँगो तो आस्तीन और जेब—सब टँग जायँगी।'

काम-वासनापर विजय प्राप्त करनी है, ब्रह्मचर्यका पालन करना है, तो सर्वेन्द्रिय-संयम करना ही होगा।

एकाङ्गी संयमका कोई अर्थ नहीं। संयम करना है तो मन, वचन और कर्म—तीनोंका संयम करना होगा। हम विकारोत्तेजक दृश्य भी देखते रहें, गंदे सिनेमा और नाटक भी देखते रहें, अश्लील साहित्य भी पढ़ते रहें, हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी, भोगकी दिशामें मनमानी छूट भी लेती रहें, मनसे भी हम विषयोंका चिन्तन करते रहें—तो ब्रह्मचर्य सधेगा कैसे?

मनसे, वचनसे, कर्मसे किसी भी इन्द्रियसे यदि विषयका चिन्तन होता है तो उसका कुपरिणाम होनेवाला ही है। उसे रोका नहीं जा सकता।

गांधी तो सत्यशोधक था। सत्यशोधकके पास दुराव-छिपाव-जैसी कोई बात तो होती नहीं। सन् १९२४ में एक बार एक भाईने उससे पूछ दिया—'ब्रह्मचर्यका अर्थ क्या है? ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन सम्भव है क्या? अगर है तो क्या आप उसका पालन करते हैं?'

गांधीने उसका उत्तर देते हुए लिखा—

'ब्रह्मचर्यका पूरा और ठीक अर्थ तो ब्रह्मकी खोज है। ब्रह्म सबमें बसता है और इसलिये अन्तर्ध्यान होनेसे तथा उससे उत्पन्न अन्तर्ज्ञानसे उसकी खोज हो सकती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियोंके सम्पूर्ण संयमके बिना असम्भव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यका अर्थ है—सब इन्द्रियोंका हर समय और हर जगह मन, वचन और कर्मसे संयम।

'जो व्यक्ति—पुरुष या स्त्री—ऐसे ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करता है, वह सर्वथा विकाररहित होता है। इसलिये ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वरके निकट रहते हैं, ईश्वर-जैसे होते हैं।

'मुझे जरा भी शङ्का नहीं कि इस प्रकारके ब्रह्मचर्यका मन, वचन और कर्मसे पूरी तरह पालन करना सम्भव है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि इस ब्रह्मचर्यकी पूर्ण अवस्थातक मैं अभी नहीं पहुँच पाया हूँ। उस अवस्थातक पहुँचनेका प्रयत्न मैं निरन्तर करता रहता हूँ। इसी शरीरके द्वारा उस स्थितितक पहुँचनेकी आशा मैंने छोड़ नहीं दी है। तनपर तो मैंने नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। जाग्रत्-अवस्थामें मैं सावधान रह सकता हूँ। वाणीके संयमका पालन करना भी मैं ठीक-ठीक सीख गया हूँ। विचारोंपर अभी मुझे बहुत कुछ नियन्त्रण करना बाकी है। जिस समय जिस बातका विचार करना हो, उस समय उसके सिवा दूसरे विचार भी मेरे मनमें आते हैं। फिर भी जाग्रत्-अवस्थामें मैं विचारोंको परस्पर संघर्ष करनेसे रोक सकता हूँ।

'मेरी ऐसी स्थिति कही जा सकती है कि गंदे विचार मेरे अंदर कभी नहीं आ सकते। परंतु निद्रावस्थामें विचारोंपर मेरा नियन्त्रण कम रहता है। नींदमें अनेक प्रकारके विचार आते हैं। अकल्पित सपने भी आते हैं और कभी-कभी इसी देहसे की हुई क्रियाओंकी वासना भी जाग्रत्

होती है। वे विचार जब गंदे होते हैं तो स्वप्नदोष भी हो जाता है। यह स्थिति विकारी जीवकी ही हो सकती है।

'मेरे पापयुक्त विकार क्षीण होते जा रहे हैं, परंतु उनका नाश नहीं हो पाया है। यदि मैं विचारोंपर भी नियन्त्रण प्राप्त कर सका होता तो पिछले दस बरसोंमें जो तीन रोग—पसलीका दर्द, पेचिश और अपेंडिसाइटीज—मुझे हुए, वे कभी न होते। मैं मानता हूँ कि नीरोग आत्माका शरीर भी नीरोग होता है।'

(हिंदी नवजीवन २५-५-२४)

× × ×

गांधीके इस लेखके प्रकाशित होनेके बाद एक सज्जनने महादेव देसाईको लिखा—"विलायतकी हमारी यात्राके समय प्रलोभनोंके रहते भी मैंने और मेरे मित्रोंने अपने चरित्रको पूरी तरह शुद्ध रखा। हम मांस, मद और स्त्रीसे तो बिल्कुल दूर ही रहे। लेकिन गांधीजीका उक्त लेख पढ़नेके बाद एक मित्रने हिम्मत हार दी और मुझसे कहा—'इस भगीरथ-प्रयासके बाद जब गांधीजीकी यह स्थिति है, तब हमारी क्या बिसात ? ब्रह्मचर्य-पालनकी कोशिश करना बेकार है। गांधीजीकी स्वीकारोक्तिने मेरी दृष्टि बिल्कुल ही बदल दी है। आजसे मुझे डूबा ही समझो।' उसे समझानेकी मेरी सारी दलील बेकार गयी। जिस चरित्रपर कलङ्कका छींटा भी न पड़ा था, वह कीचड़से सन गया। अगर कोई आदमी गांधीजीको उसके इस पतनके लिये जिम्मेदार ठहराये, तो वे स्वयं उसे क्या जवाब देंगे ? गांधीजीकी स्वीकारोक्तिने मेरी सुरक्षितताकी भावनाको जड़से हिला दिया है। सत्य और नग्न सत्यको कहना बेशक बहादुरीकी बात है, परंतु दुनिया और 'नवजीवन' तथा 'यंग इण्डिया' के पाठक इससे गांधीजीके बारेमें गलत राय कायम करेंगे।"

गांधीने इस पत्रका उत्तर देते हुए १८ फरवरी १९२६ के 'हिंदी नवजीवन'में लिखा—

"इस शिकायतसे मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। असहयोग आन्दोलन जब पूरे जोरपर था और स्वतन्त्रता-संग्रामके बीच जब मैंने अपनी 'समझकी एक भूल' हो जानेकी बात स्वीकार की, तब एक मित्रने निर्दोषभावसे मुझे लिखा था। 'अगर यह भूल थी तो भी आपको उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये था। लोगोंको यह माननेके लिये उत्साहित करना चाहिये कि दुनियामें कम-से-कम एक आदमी तो ऐसा है, जो भूल-भ्रमसे परे है। लोग आपको ऐसा ही मानते थे। पर आपके अपनी भूल स्वीकार करनेसे वे हिम्मत हार जायँगे।' यह आलोचना पढ़कर मुझे हँसी भी आयी और दुःख भी हुआ। पत्र लिखनेवालेके भोलेपनपर मुझे हँसी आयी। लेकिन लोगोंको एक पतनशील प्राणीके भूल और भ्रमसे परे होनेका विश्वास दिलाया जाय, यह विचार ही मेरे लिये असह्य था। जो आदमी जैसा है, उसे वैसा जाननेमें सदा सब लोगोंका हित ही है। इससे कभी कोई हानि नहीं होती। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे तुरंत अपनी भूलें स्वीकार कर लेनेसे लोगोंका हर तरहसे हित ही हुआ है। कम-से-कम मेरे लिये तो वह आशीर्वाद रूप ही सिद्ध हुआ है।

"यही बात मैं अपने दूषित स्वप्नोंकी स्वीकृतिके बारेमें भी कह सकता हूँ। पूर्ण ब्रह्मचारी न होते हुए भी यदि मैं वैसा होनेका दावा करूँ तो उससे दुनियाकी बड़ी हानि होगी; क्योंकि वह ब्रह्मचर्यकी उज्ज्वलताको मलिन बनायेगा और सत्यके तेजको धूमिल कर देगा। झूठे दावे करके ब्रह्मचर्यका मूल्य घटानेका साहस मैं कैसे कर सकता हूँ।

"मैं सच्चा साधक हूँ, मैं पूरा जाग्रत् रहता हूँ, मेरा प्रयत्न अथक और अडिग है—इतना ही जान लेना दुनियाके लिये काफी क्यों न होना चाहिये ? इतना ही जानना औरोंको उत्साहित करनेके लिये पर्याप्त क्यों न होना चाहिये ? झूठी प्रतिज्ञाओंसे सिद्धान्त स्थिर करना गलत है। यह तर्क क्यों किया जाय कि जब मुझ-जैसा आदमी भी मलिन विचारोंसे न बच सका, तब औरोंके लिये क्या आशा की जा सकती है। उसके बजाय यह क्यों न सोचा जाय कि अगर गांधी, जो एक दिन काम-वासनाका गुलाम था, आज अपनी पत्नीका मित्र और भाई बनकर रह सकता है और सुन्दर-से-सुन्दर युवतीको भी अपनी बहिन या बेटीके रूपमें देख सकता है, तो छोटे-से-छोटा और पापके खड्डेमें गिरा हुआ आदमी भी ऊपर उठनेकी आशा रख सकता है ? ईश्वर अगर ऐसे कामी पुरुषपर दया कर सकता है, तो निश्चय ही दूसरे सब लोग भी उसकी दयाके अधिकारी होंगे।

"पत्र लिखनेवाले जो मित्र मेरे दोषोंको जानकर पीछे हट गये, वे जीवनमें कभी आगे बढ़े ही न थे। वह उनकी झूठी साधुता थी, जो हवाके पहले झोंकेमें उड़ गयी। सत्य,

ब्रह्मचर्य-पालन तथा दूसरे सनातन सिद्धान्त मुझ-जैसे अपूर्ण मनुष्योंकी साधनापर आश्रित नहीं होते। वे तो उन बहुसंख्यक पुरुषोंकी तपश्चर्याके अटल आधारपर खड़े होते हैं, जिन्होंने उनकी साधनाका अथक प्रयत्न किया और जो अपने जीवनमें उनका सम्पूर्ण पालन कर रहे हैं।''

× × ×

मनुष्य संयम-पालन करनेका जी-जानसे प्रयत्न करे और इस व्रतकी सफलताके लिये ईश्वरसे सतत प्रार्थना करता रहे तो ईश्वर उसपर दया दिखायेगा ही—इसमें संदेहके लिये गुंजाइश ही नहीं। हाँ, यदि उसका प्रयत्न ढीला रहेगा अथवा उसके मनमें अहंकार आ घुसेगा तो किसी भी क्षण उसका पतन सम्भव है।

गांधीकी ब्रह्मचर्यकी साधना बहुत लंबी थी, फिर भी उसे सतत सावधान रहना पड़ता था। इस मार्गमें कैसे-कैसे झटके लगते हैं, इसके उदाहरण गांधीजीकी साधनामें ढूँढ़े जा सकते हैं।

एक नमूना लीजिये, १९३६ की बात है। गांधी बीमार पड़ा। पौष्टिक तत्त्वोंकी कमी और सार्वजनिक कामोंके बहुत बढ़ जानेसे स्नायुओंपर जोर पड़नेसे बीमारी टेढ़ी हो चली। लिहाजा डाक्टरोंने साधारण सावधानी बरती और सरदार वल्लभभाई पटेल और सेठ जमनालाल बजाज गांधीके स्वेच्छाप्रेरित कड़े जेलर बन बैठे। भाषण, प्रवचन, लेख, पत्र-व्यवहार आदि तमाम कार्यक्रमोंपर कड़ी रोक लगा दी गयी और गांधीको अधिक-से-अधिक आराम देनेका प्रबन्ध कर दिया गया। खानपान, निद्रा, व्यायाम, मनोरञ्जन आदि सारी बातोंपर कड़ी पाबंदी लगा दी गयी।

नतीजा ?

गांधीको फ़ुरसत-ही-फ़ुरसत मिल गयी। आराम-ही-आराम ! उस मौकेपर गांधीको आत्मनिरीक्षणका काफी समय मिला। २९ फरवरी १९३६ के 'हरिजन सेवक'में वह लिखता है—

''इतना आराम मैं कभी न करता। इससे मुझे केवल स्वास्थ्यलाभ ही नहीं हुआ, बल्कि आत्मनिरीक्षणसे मुझे यह भी मालूम हुआ कि गीताका जो अर्थ मैं समझा हूँ, उसका पालन करनेमें मैं कितनी बड़ी गलती कर रहा हूँ। मुझे पता चला कि जो विविध समस्याएँ मेरे समक्ष उपस्थित हुईं, उनपर अनासक्त भावसे मैंने विचार नहीं किया। यह स्पष्ट है कि उनमेंसे अनेकने मेरे हृदयपर असर डाला है और मैंने उन्हें भीतरकी भावुकताको जाग्रत् करके अपने स्नायुओंपर जोर डालने दिया है। दूसरे शब्दोंमें कहूँ तो गीताके भक्तको उनके प्रति जैसा अनासक्त रहना चाहिये, वैसा मेरा मन या शरीर नहीं रहा है।

''डाक्टरलोग मुझे यह चेतावनी देते हुए कभी नहीं थकते थे कि हमारे आसपास जो घटनाएँ घट रही हैं, उनसे मुझे उत्तेजित हरगिज नहीं होना चाहिये। कोई दुःखद या उत्तेजक घटना अथवा समाचार मेरे सामने न आये, इसकी भी खासतौरपर सावधानी रखी गयी। उन्हें यह विश्वास नहीं रहा कि अनासक्त भावसे मैं कोई काम कर सकता हूँ। मेरा बीमार पड़ जाना उनके लिये इस बातका बड़ा भारी प्रमाण था कि अनासक्तिकी मेरी जो ख्याति है, वह थोथी है और इसमें मुझे अपना दोष स्वीकार करना ही पड़ेगा।

''लेकिन अभी सबसे बुरी बात तो होनी बाकी थी। सन् १८९९ से मैं जान-बूझकर और निश्चयके साथ ब्रह्मचर्य-का पालन करनेकी कोशिश करता रहा हूँ। मेरी ब्रह्मचर्यकी व्याख्याके अनुसार इसमें न केवल शरीरकी, बल्कि मन और वचनकी शुद्धता भी शामिल है और सिवा उस अपवादके, जिसे कि मानसिक स्खलन कहना चाहिये, अपने ३६वर्षसे अधिक समयके सतत एवं जागरूक प्रयत्नके बीच मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी भी मेरे मनमें इस सम्बन्धमें ऐसी बेचैनी पैदा हुई हो, जैसी इस बीमारीके समय मुझे महसूस हुई। यहाँतक कि मुझे अपनेसे निराशा होने लगी।

''लेकिन जैसे ही मेरे मनमें विकारकी भावना उठी, मैंने अपने साथियों और डाक्टरोंको उससे अवगत कर दिया; लेकिन ये इसमें मेरी कोई मदद नहीं कर सके। मैंने उनसे आशा भी नहीं की थी। अलबत्ता, इस अनुभवके बाद मैंने उस आराममें कमी कर दी, जो कि मुझपर जबरन लादा गया था। अपने इस बुरे अनुभवको स्वीकार कर लेनेसे मुझे बड़ी शान्ति मिली; मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो मेरे ऊपरसे बड़ा भारी बोझ हट गया और कोई हानि हो सकनेसे पहले ही मैं सँभल गया।''

× × ×

छत्तीस सालकी साधनाके बाद भी मनमें विकार आ सकते हैं, इसलिये ब्रह्मचर्यके साधकको जीवनके अन्तिम

क्षणतक इस विषयमें जागरूक रहना चाहिये। पलभरकी असावधानी जिंदगीभरकी साधनापर पानी फेर दे सकती है, इस बातका सदैव स्मरण रखना चाहिये।

इतना ही नहीं, ब्रह्मचर्यके साधकको संयमकी किसी भी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। पता नहीं, किस इन्द्रियका जरा-सा असंयम कहाँ और किस क्षण साधकको पतनके गर्तमें डुबा दे।

सन् १८९१ में विलायतसे लौटनेके बाद गांधीने अपने परिवारके भाइयोंके बच्चोंको अपने संरक्षणमें ले लिया और उनके बालक-बालिकाओंके कंधोंपर हाथ रखकर उनके साथ घूमनेकी आदत डाल ली। इनके बड़े हो जानेपर भी गांधीकी यह आदत जारी रही। धीरे-धीरे इस ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित होने लगा।

जनता तो जनता। वह तो अच्छी बातमें भी बुरी बात सूँघ लेती है। निर्दोष बातोंपर भी सदोषकी शङ्का उठाने लगती है। गांधीकी यह आदत भी जनताकी आलोचनाका विषय बन गयी। किसी-किसी अखबारने इसपर शीर्षक देना शुरू किया—'सेण्ट्स् आल्सो लाइक फ्लैस।—संतों-महात्माओंको भी मांसल अङ्गोंका स्पर्श रुचिकर लगता है।'

गांधीको ऐसा नहीं लगता था कि वह बड़ी उम्रकी लड़कियों या स्त्रियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलता है तो कोई भूल कर रहा है; पर जब उसके दो साथियोंने १९३५ में वर्धामें आकर उससे कहा कि 'आपकी यह आदत सम्भव है दूसरोंके लिये बुरा उदाहरण बन जाये। इसलिये आप इसे बंद कर दें', तभी एक निर्णयात्मक घटना घटी। विश्वविद्यालयका एक तेज विद्यार्थी अकेलेमें एक लड़कीके साथ सभी तरहकी आजादीसे काम लेता था और कहता था कि मैं उसे सगी बहनकी तरह प्यार करता हूँ। कोई उसपर अपवित्रताका आरोपण करता तो वह नाराज हो जाता। उधर वह लड़की इस युवकको सर्वथा पवित्र और भाईके समान मानती। वह उसकी चेष्टाओंको पसंद नहीं करती, आपत्ति भी करती; पर उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि उसकी आपत्तिजनक चेष्टाओंको रोक सके।

गांधीने गम्भीरतासे इन बातोंपर विचार किया और तत्काल लड़कियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलनेकी अपनी इतनी पुरानी आदतका त्याग कर दिया। वह लिखता है—"ऐसी बात नहीं कि यह निर्णय करते समय मुझे गहरा दुःख न हुआ हो। इस प्रथाके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मनमें नहीं आया। मेरा आचरण पिताके-जैसा रहा है, पर ऊपरकी घटनाने मुझे अपनी यह आदत छोड़ देनेके लिये सचेत कर दिया, फिर मेरा लड़कियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलनेका व्यवहार चाहे जितना पवित्र रहा हो।"

× × ×

ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें हमारे यहाँ बहुत अधिक साहित्य उपलब्ध है। उनमें नाना प्रकारके निषेध भरे पड़े हैं। उसमें नारी-शरीरकी निन्दा तो है ही, उससे सर्वथा दूर रहने, उसका स्पर्श न करने, मनमें भी उसका चिन्तन न करने आदिके बारेमें अनेक बातें रखी हैं। अपने-अपने स्थानपर उन सब बातोंका उपयोग भी है। पर गांधीका कहना था—

'ब्रह्मचारी रहनेका अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्रीका स्पर्श न करूँ, अपनी बहनका भी स्पर्श न करूँ। परंतु ब्रह्मचारी होनेका अर्थ यह है कि किसी स्त्रीका स्पर्श करनेसे किसी प्रकारका विकार मनमें उत्पन्न नहीं होना चाहिये, जिस तरह कागजको स्पर्श करनेसे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और उसकी सेवा करनेमें, उसका स्पर्श करनेमें, ब्रह्मचर्यके कारण मुझे हिचकना पड़े तो मेरा ब्रह्मचर्य तीन कौड़ीका है। जिस निर्विकार दशाका अनुभव हम मृत शरीरका स्पर्श करके कर सकते हैं, उसी निर्विकार दशाका अनुभव जब हम किसी परम सुन्दरी युवतीका स्पर्श करनेपर भी कर सकें तभी कहा जायगा कि हम ब्रह्मचारी हैं।'

× × ×

'अहिंसा और ब्रह्मचर्य'की व्याख्या करते हुए २३ जुलाई १९३८ के 'हरिजन-सेवक'में गांधी लिखता है—

'कहा जाता है कि ब्रह्मचारीको स्त्रियोंका स्पर्श तो क्या, उनका दर्शन भी कभी नहीं करना चाहिये। निस्संदेह, किसी ब्रह्मचारीको विकारी बनकर किसी स्त्रीको न तो छूना चाहिये, न देखना चाहिये और न उसके विषयमें कुछ कहना या सोचना ही चाहिये। लेकिन ब्रह्मचर्यविषयक पुस्तकोंमें हमें यह जो वर्णन मिलता है, उसमें इसके महत्त्वपूर्ण क्रिया-विशेषण 'विकारी बनकर'का उल्लेख नहीं मिलता। इसका उल्लेख न करनेकी वजह यह मालूम पड़ती है कि ऐसे मामलोंमें मनुष्य निष्पक्षभावसे निर्णय नहीं कर सकता और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कब ऐसे सम्पर्कसे उसके

मनमें विकार पैदा हुआ और कब नहीं। कामविकार अक्सर अदृश्य रूपमें ही उत्पन्न हो जाता है। इसलिये दुनियामें आजादीसे सबके साथ हिलने-मिलनेपर ब्रह्मचर्यका पालन यद्यपि कठिन है, फिर भी अगर संसारसे नाता तोड़कर एकान्तवास करनेपर ही उसका पालन हो सकता हो तो उस ब्रह्मचर्यका विशेष मूल्य नहीं है।

'जो भी हो, मैंने तो तीस वर्षसे अधिक समयसे प्रवृत्तियोंके बीच रहते हुए भी ब्रह्मचर्यका खासी सफलताके साथ पालन किया है। ब्रह्मचर्यका जीवन बितानेका निश्चय कर लेनेके बाद पत्नीके साथके व्यवहारको छोड़कर बाहरके लोगोंके साथ मेरे आचरणमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। दक्षिण अफ्रीकामें भारतीयोंके बीच मुझे जो काम करना पड़ा, उसमें मैं स्त्रियोंके साथ आजादीके साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटालमें शायद ही कोई ऐसी भारतीय स्त्री रही होगी, जिसे मैं न जानता होऊँ। मेरे लिये तो वे सब बहनें और बेटियाँ ही थीं।

'मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकोंसे प्राप्त किया हुआ नहीं था। मैंने तो स्वयं अपने तथा उन लोगोंके मार्गदर्शनके लिये, जो मेरे कहनेपर इस प्रयोगमें शामिल हुए थे, अपने ही नियम बना लिये थे। मैंने इसके लिये पुस्तकोंमें वर्णित निषेधोंका अनुसरण नहीं किया है, धार्मिक साहित्यतकमें स्त्रियोंका, जो सारी बुराई और प्रलोभनके द्वारके रूपमें वर्णन किया गया है, उसे तो मैंने इससे भी कम स्वीकार किया है।

'मैं तो ऐसा मानता हूँ कि मुझमें जो भी अच्छाई है, वह सब मेरी माँके बदौलत है। इसलिये स्त्रियोंको मैंने कभी कामवासनाकी तृप्तिके साधनके रूपमें नहीं देखा, बल्कि हमेशा उसी श्रद्धाके साथ देखा है, जो मैं अपनी माताके प्रति रखता हूँ।'

मनुष्य स्त्रीमात्रको जब माँ—मातृवत् परदारेषु—मानकर चलता है, तब कामवासनाको उसके निकट फटकनेका अवसर ही नहीं मिलता। ब्रह्मचर्यकी साधनामें कठिनाई इसीलिये आती है कि हमारे मानसमें स्त्री मातृरूपमें बैठती नहीं। मनमें जब मातृभावना नहीं रहेगी, तभी मनुष्यके पतनकी आशङ्का रहेगी।

रामकृष्ण परमहंससे एक दिन किसीने पूछा—'महाराज, आप अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्य-जीवन क्यों नहीं बिताते ?' बोले—''तुमने कार्तिकेयका किस्सा नहीं सुना ?

''एक दिन कार्तिकेयने अपने नाखूनसे एक बिल्लीको नोंच-खरोंच दिया। घरपर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि माँके गालपर उसी तरहकी खरोंच पड़ी है। चकित होकर पूछा—'माँ! तेरे गालपर खरोंच कैसी लगी है ?'

''जगन्माता बोली—'बेटा, यह तेरी ही तो करतूत है। तूने ही अपने नाखूनसे मुझे खरोंच दिया है।'

''कार्तिकेयने पूछा—'मुझे तो याद नहीं कि मैंने तेरे गालपर कब नोचा-खरोंचा।'

''माँने कहा—'क्यों, बेटा! तू भूल गया, आज तूने बिल्लीको नोचा-खरोंचा था न ?'

''कार्तिकेयने कहा—वह तो नहीं भूला, पर तुझे तो नहीं नोचा-खरोंचा था? तेरे गालपर यह निशान कैसे उभर आया ?'

''माँ बोली—'बेटा, मेरे सिवा संसारमें और कौन है? तू यदि किसीको सताता है तो मुझे ही न सताता है ?'

''कार्तिकेय अवाक् रह गये। उस दिनसे उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं विवाह ही न करूँगा। विवाह किसके साथ करूँ? जगत्‌की सारी स्त्रियाँ तो मेरी माँ ही हैं।'

रामकृष्ण परमहंस बोले—'कार्तिकेयकी तरह मेरे लिये भी जगत्‌की सारी स्त्रियाँ मातृवत् ही हैं। फिर कैसे मैं गृहस्थ-जीवन बिताऊँ ?'

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥

× × ×

सच्चा ब्रह्मचारी मन-वचन-कर्मसे निर्विकार होता है। गांधीके शब्दोंमें—'ब्रह्मचर्य मनकी स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहचान और उसकी निशानी है। जिस पुरुषके मनमें जरा भी विषयवासना नहीं रही, वह कभी विकारके वश नहीं होगा। वह किसी स्त्रीको चाहे जिस स्थितिमें देखे, चाहे जिस रूप-रंगमें देखे, उसके मनमें विकार पैदा नहीं होगा। यही स्त्रीके बारेमें समझना चाहिये। लेकिन जिसके मनमें विकार उठा ही करते हैं, उसे तो सगी बहन या बेटीको भी नहीं देखना चाहिये।'

× × ×

ब्रह्मचर्यका उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट स्वरूप यह है कि सुन्दरी-से-सुन्दरी युवतीके साथ रहते हुए भी मनुष्यके मनमें विकारकी

कल्पनातक न हो। गांधीने इस आदर्शतक पहुँचनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा की। जीवनके अन्तिम क्षणोंमें उन्होंने कुमारी मनु गांधीके साथ जो प्रयोग किये, उनका किशोरलालजी मशरूवाला-जैसे व्यक्तियोंने भी विरोध किया था, यहाँतक कि गांधीके इस सम्बन्धके लेखोंको भी उन्होंने 'हरिजन'में नहीं छापा, यद्यपि गांधीका नाम उसके सम्पादकके स्थानपर छपता था। श्रीप्यारेलालने 'लास्टफेज' में विस्तारसे इसका वर्णन किया है।

पर सत्यका साधक तो ऐसे विरोधोंकी परवा करता नहीं। गांधीका तो सारा जीवन ही सत्यकी प्रयोगशाला था। उसने अपनेको ब्रह्मचर्यकी कड़ी-से-कड़ी कसौटीपर कसकर देखा। सत्तर वर्षकी भी उम्रमें वह पुकार-पुकारकर कहता था—'यदि इस उमरमें भी स्त्रियोंके प्रति मेरे भीतर कामवासना जागे तो एकसे अधिक पत्नी करनेकी हिम्मत मुझमें है। मैं छिपे या खुले स्वेच्छाचारमें विश्वास नहीं रखता। स्वेच्छाचार मेरी दृष्टिमें कुत्तेका आचार है। छिपे प्रेममें तो ऐसे आचारके सिवा नामर्दी भी है।'

गांधीके खुले जीवनपर आक्षेप भी होते रहते थे। ५ नवम्बर १९३९ के 'हरिजन-बन्धु'में इस सम्बन्धमें गांधी लिखता है—'अपने जीवनमें मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली एक भी बात मैंने गुप्त नहीं रखी है। अपनी कमजोरियाँ मैंने खुले आम समय-समयपर स्वीकार की हैं। मेरा विश्वास है कि यदि वासना मुझे खींचे तो उसे स्वीकार करनेकी हिम्मत मुझमें है। जब अपनी पत्नीके साथ भी वासना-तृप्ति करनेमें मुझे घृणाका अनुभव होने लगा और इस सम्बन्धमें मैंने अपनी पूरी परीक्षा कर ली, तभी १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्यका व्रत लिया। यह व्रत मैंने अपने भीतर देशकी सेवाके प्रति भक्ति तथा निष्ठा बढ़ानेके लिये लिया था। उसी दिनसे मेरे खुले जीवनका आरम्भ हुआ। उसके बाद 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन'के लेखोंमें वर्णित प्रसङ्गोंके सिवा मेरी अपनी पत्नीके साथ या परस्त्रीके साथ किसी भी समय बंद कमरेमें रहने अथवा सोनेकी बात मुझे याद नहीं है। मेरे लिये वे कालरात्रियाँ थीं, परंतु मैं बार-बार कह चुका हूँ कि मेरी अपनी कुप्रवृत्ति होनेके बावजूद ईश्वरने मुझे उबार लिया है।

'जिस दिनसे मेरा ब्रह्मचर्य आरम्भ हुआ, उसी दिनसे हम दोनों पति-पत्नीके सच्चे स्वातन्त्र्यका आरम्भ हुआ। मेरी पत्नी अपने प्रभु और स्वामीके रूपमें मेरी सत्तासे मुक्त होकर स्वतन्त्र बनी और मैं अपनी उस वासनाकी गुलामीसे मुक्त हुआ, जो मेरी पत्नीको तृप्त करनी पड़ती थी। अपनी पत्नीके प्रति मेरा जो आकर्षण था, वैसा आकर्षण उस अर्थमें दूसरी किसी भी स्त्रीके प्रति कभी नहीं रहा। पतिके रूपमें अपनी पत्नीके प्रति तथा अपनी माताके सामने भी हुई प्रतिज्ञाके प्रति मैं इतना वफादार था कि दूसरी किसी स्त्रीकी गुलामी मैं कर ही नहीं सकता था।

'परंतु जिस प्रकार मुझमें ब्रह्मचर्यका विकास हुआ, उसने मुझे स्त्रीको मनुष्यकी माताके रूपमें देखना सिखाया और इसलिये मैं अनिवार्यरूपमें स्त्रीजातिके प्रति आकर्षित हुआ। मेरी दृष्टिमें स्त्री इतनी पवित्र और पावन बन गयी कि उसकी ओर मैं वासनाकी नजरसे देख ही नहीं सकता था। इस प्रकार प्रत्येक स्त्री मेरी बहन या पुत्री-जैसी बन गयी।

''आश्रममें मैं जहाँ सोता हूँ, वहाँ मेरे आसपास सब जगह स्त्रियाँ सोती हैं; क्योंकि वे मेरे समीप अपनेको हर तरहसे सुरक्षित मानती हैं। हमारे आश्रममें एकान्त-जैसी कोई चीज होती ही नहीं।''

× × ×

गांधीकी ब्रह्मचर्यकी यह साधना कठिन तो है, पर असम्भव नहीं। किसीके लिये भी यह असम्भव नहीं। हम हों, आप हों, कोई भी हो, वह गांधीके इस जीवन-सूत्रको अपना जीवन-सूत्र बना सकता है।

सवाल है कि इसका उपाय क्या है, इसका साधन क्या है ?

गांधीसे इस बारेमें बार-बार प्रश्न किये जाते थे, बार-बार वह उनके उत्तर देता था। उसका यह उत्तर ब्रह्मचर्यके साधकोंके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है—

'ब्रह्मचर्यके मार्गपर चलनेका पहला कदम है—उसकी आवश्यकताका भान होना। इसके लिये ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पुस्तकोंका पठन और मनन आवश्यक है।

'दूसरा कदम है—धीरे-धीरे इन्द्रिय-निग्रह करना, इन्द्रियोंपर काबू पाना। ब्रह्मचारी स्वादपर अङ्कुश रखे। जो कुछ वह खाये, पोषणके लिये ही खाये। आँखोंसे गंदी वस्तु न देखे। सदा शुद्ध वस्तुएँ ही देखे। किसी गंदी वस्तुके सामने आँखें बंद कर ले। इसीलिये सभ्य स्त्री-पुरुष चलते-फिरते इधर-उधर देखनेके बदले जमीनपर ही नजर रखें और शरीरकी तुच्छताका ही दर्शन करें। वे

कानसे कोई बीभत्स बात कभी न सुनें, नाकसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ न सूँघें, अपने हाथ-पाँवका भी वे कभी बुरे काममें उपयोग न करें और समय-समयपर उपवास करें।

'तीसरा कदम यह है कि ब्रह्मचारी अपना सारा समय सत्कार्यमें, जगत्की सेवामें ही बिताये।

'चौथा कदम यह है कि ब्रह्मचारी सत्सङ्गका सेवन करे। अच्छी पुस्तकें पढ़े और आत्मदर्शनके बिना विकार जड़-मूलसे नष्ट नहीं हो सकते, यह समझकर रामनामका सदा रटन करे और ईश्वर-प्रसादकी याचना करे।'

तात्पर्य संयम मनका, तनका, वचनका, सेवा, सत्सङ्ग और रामनाम—यही है ब्रह्मचर्यकी साधनाकी कुंजी।

ब्रह्मचर्यकी यह साधना प्रत्येक व्यक्तिके लिये सम्भव है। विवाहितोंके लिये भी गांधीने रास्ता निकाल रखा है—

'विवाहितका अविवाहितकी तरह हो जाना। विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जायँ तो सारे झगड़ोंसे वे मुक्त हो जाते हैं। संसारभरकी सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, बेटियाँ हैं—यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊँचे ले जानेवाला, बन्धनसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है।'

आइये, गांधीके इस जीवन-सूत्रको हम भी अपना जीवन-सूत्र बनायें। उसके लिये हम सर्वेन्द्रिय-संयमकी आदत डालें। संयम मनका भी हो, तनका भी और वचनका भी। उसके साथ-साथ रामनामका एकतारा चौबीसों घंटे चलता रहे। सर्वेन्द्रिय-संयमकी खूँटीपर कोट टाँग दीजिये, बस, बेड़ा पार है, और जब यह स्थिति होगी, तब हमारी सफलता निश्चित है।—

'सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥'

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान्‌के नामका आश्रय दृढ़तासे पकड़ लीजिये।

'........भगवान्‌के नामका आश्रय दृढ़तासे पकड़ लीजिये। अन्य साधनोंका विरोध नहीं है। सब करें, अच्छी तरह करें; पर आश्रय 'नाम'का पकड़ें। जैसे छोटा बच्चा माँका अञ्चल पकड़े रहता है, इसके बाद—'हमें यह चाहिये, वह चाहिये'—सब चीजें खोजता है;—बाप-भाई-बहिन सबको चाहता है, परंतु माँका अञ्चल नहीं छोड़ता। वह ऐसा इसलिये करता है कि उसे इस बातका भरोसा है कि माँ उसकी अपने अहैतुक स्नेहसे सदैव रक्षा करेगी। वैसे ही नाम-का आश्रय पकड़ लें और फिर इसके बाद सब करें। ऐसा करनेपर 'नाम' हमें तार देगा। सभी (साधन) अच्छे हैं, सदाचार अच्छा है; पर अन्तिम समयतक सदाचार सिद्ध नहीं हुआ तो ? सब चाहते हैं, मन वशमें हो, बहुत ठीक; परंतु अन्ततक मन वशमें नहीं हुआ तो ? दैवी-सम्पदाके गुण होने आवश्यक हैं, बहुत ठीक; पर यदि मरते समयतक वे नहीं आ सके तो ? ध्यान होना उत्तम बात है, पर यदि अन्ततक नहीं हुआ तो ? ऐसे ही सब साधनोंकी बात है। परंतु यदि 'नाम'का आश्रय पकड़े रहेंगे तो यह 'नाम' हमें तार देगा। और सब साधनोंमें भावकी जरूरत है। भाव होगा तो काम होगा। पर 'नाम' बिना भावके ही हमारा काम कर देगा।

हमलोग कलियुगी प्राणी हैं। हमारी बच्चेकी-सी हालत है। दिन-रात मैलेमें लिपटे हुए हैं। यदि बच्चा अपना मैला धोता रहे तो वह धोते-धोते मर जायगा। उसका मैला तो माँ धोयेगी। इसी तरह 'नाम' हमारा निस्तार करेगा और सब साधनोंमें तो हमें उठना है, पर 'नाम' तो स्वयं हमें अपनी शक्तिसे उठानेवाला है। यह कितना अन्तर है ! दूसरे साधनोंमें तो हमें शक्ति लगानी पड़ेगी, पर 'नाम' स्वयं अपनी शक्तिसे काम कर देगा। मनसे न हो, भावसे न हो—कोई बात नहीं; केवल जीभसे 'नाम' लें; सकाम, निष्काम—कैसे भी करें, आदत डाल लें। जँभाई लेते, चलते-फिरते, छींकते आदि

हर एक क्रियामें—जिस प्रकार हो, 'जीभसे' नाम लेते रहना चाहिये। माता देवहूतिने कहा है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

यहाँपर 'श्वपच'का अर्थ मामूली चण्डाल नहीं—'कुत्तेका मांस खानेवाला चण्डाल' है। उसकी जीभपर ही नाम रहनेकी बात है, मनसे लेनेकी नहीं; इस प्रकार जीभसे 'नाम' लेनेवाला भी श्रेष्ठ माना गया है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर……॥

शास्त्राध्ययन और संत-महात्माओंके सत्सङ्गसे यही निष्कर्ष समझमें आता है कि एक ही बात है और वह है—'नामका आश्रय'। ऋषि-मुनि—सभी एक मतसे निश्चय करके कह गये हैं कि इस कलियुगमें और कोई सहारा नहीं है। बड़े-बड़े साधनोंकी बात भले ही कर लें। सचमुच जो 'नाम'का आश्रय छोड़कर दूसरे साधनोंमें लगते हैं, वे प्रायः दोनों तरफसे जाते हैं। 'नाम' तो दिया छोड़ और दूसरा साधन सधा नहीं।

× × × × ×

नामजपके नियमके सम्बन्धमें एकमात्र हमारे हृदयकी उत्कण्ठा ही मुख्य वस्तु है। लगन रहनेपर भगवान् उसे अवश्य निभायेंगे। यदि नामजपकी संख्या पूरी न हो पाये तो इसके लिये मनमें सचमुच दुःखका अनुभव होना और भविष्यमें प्रभुसे प्रार्थना करते हुए 'अब फिर कभी ऐसी भूल नहीं होगी।' ऐसा संकल्प करना यह सबसे उत्तम प्रायश्चित्त है।

× × × × ×

चिन्ता करना छोड़ दें। मन नहीं लगता, यह नहीं होता, वह नहीं होता—यों कहना 'नाम'पर अविश्वास करना है। 'नाम' होता है न ? बस, सब ठीक है। दिनभरमें एक बार भी तो 'नाम' निकल जाता ही है। फिर विश्वास कर लें, हमारा उद्धार यही 'नाम' कर देगा।

महात्माका सङ्ग करनेवालेके मनमें न कोई शङ्का होती है न कोई प्रश्न उठता है।

लोग प्रश्न पूछते हैं—'महापुरुषोंके पास जानेपर प्रश्न याद नहीं आते और उनसे वियोग होते ही वे प्रश्न फिर उठ खड़े होते हैं, क्या करना चाहिये ?' इसका उत्तर यही है कि महापुरुषोंकी यही महिमा है। प्रश्न, उधेड़-बुन—सब-के-सब अन्धकारमें ही होते हैं। महापुरुषोंके सामने जानेपर अन्धकार मिट जाता है, फिर प्रकाश-ही-प्रकाश बच जाता है। निरन्तर सूर्यके पास रहनेवालोंको अन्धकारका दर्शन ही नहीं होता, उसी प्रकार निरन्तर महात्माका सङ्ग करनेवालेके मनमें न कोई शङ्का होती, न कोई प्रश्न उठता है। वहाँ केवल प्रेमकी धारा ही नित्य-निरन्तर बहती रहती है। श्रीनारायणस्वामीजी वृन्दावनके एक बड़े ऊँचे महात्मा हो गये हैं। लोग देखते कि वे प्रतिदिन कुसुम-सरोवरसे दौड़ते हुए एक-दो मील जाते, फिर वहाँ कुछ ही क्षण ठहरकर पीछेकी ओर दौड़ते हुए कुसुम-सरोवर पहुँच जाते। प्रतिदिन उन्हें ऐसा करते देखकर लोगोंने पूछा—'बाबा ! ऐसा क्यों करते हैं ?' स्वामीजीने बहुत आग्रह करनेपर बताया—'क्या बताऊँ ? मैं देखता हूँ कि श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं; मुझसे रहा नहीं जाता, मैं पकड़नेके लिये दौड़ पड़ता हूँ; वे भागते हैं, मैं भी भागता हूँ। जब दौड़ते-दौड़ते थक जाता हूँ तो देखता हूँ कि अब वे मेरे पीछेकी ओर खड़े हैं। मैं भी पीछे मुड़ जाता हूँ। मैं पुनः पकड़ना चाहता हूँ। वे भागने लगते हैं, मैं भी पकड़नेके लिये दौड़ता हूँ। इस प्रकार दौड़ते-दौड़ते कुसुम-सरोवर वापस आ जाता हूँ।'

लोगोंने पूछा—'बाबा ! श्रीकृष्णसे कुछ पूछते हो कि नहीं ?'

स्वामीजीने कहा—"भैया ! क्या बताऊँ ? पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं । सोचता हूँ, 'यह बात पूछूँगा, वह पूछूँगा' पर जिस समय वे सामने आते हैं, उस समय सब कुछ भूल जाता हूँ । केवल उनका अनुपम मुखड़ा ही देखता रह जाता हूँ ।" यही बात होती है महात्माओंके सम्बन्धमें भी । जिसके सामने उनका जितना अधिक पर्दा उठा रहता है, वह मनुष्य उतना ही अधिक उनके प्रेमको ग्रहण करता है । प्रेम-ग्रहण होने लगनेपर शङ्का—प्रश्न नहीं होते । जो प्रश्न होते भी हैं, वे सर्वथा अलौकिक प्रेमके अङ्ग ही होते हैं, प्रेममय होते हैं, प्रेमके प्रवाहको और भी प्रखर बनानेवाले होते हैं ।

आपकी दृष्टिमें संसारमें जो सबसे ऊँचा पुरुष हो, उसके संरक्षणमें अपना जीवन बितानेकी चेष्टा करें ।

'भगवान्की दयाको कैसे अनुभव करें'—इस प्रकारकी लालसा होनी बड़ी उत्तम बात है, पर सच्ची बात यह है कि इस लालसाको और भी पुष्ट करना पड़ेगा । एक चीज जो हमलोगोंमें बहुत कम पायी जाती है, वह है—'श्रद्धा' । शास्त्रों एवं संतोंकी बातपर जबतक हम विश्वास नहीं करेंगे, उनकी कही हुई बातोंका पालन नहीं होगा, तबतक भगवान्की कृपाका अनुभव होना कठिन-सा है । इसलिये आपकी दृष्टिमें संसारमें जो सबसे ऊँचा पुरुष हो, उसके संरक्षणमें अपना जीवन बितानेकी चेष्टा करें । ऊँचा पुरुष कौन है ?—इस बातके लिये भी आपको पहले शास्त्रपर श्रद्धा करनी पड़ेगी और ऊँचे पुरुषके लक्षण जो शास्त्रमें आये हैं, उनके आधारपर ऐसे पुरुषकी खोज करनी पड़ेगी । ऊँचे पुरुषोंकी जाँच करनेमें भी आपकी भूल हो सकती है, पर यदि आप शुद्ध नीयतसे भगवान्का आश्रय पकड़कर बढ़ेंगे तो प्रभु सँभाल लेंगे । वे सबके पथ-प्रदर्शक हैं, सर्वज्ञ हैं; वे सच्ची लालसा होनेपर सब प्रकारका संयोग दया करके जुटा देते हैं । अतः आप सबसे पहले यही चेष्टा करें । गीताके १६वें अध्यायमें स्वयं भगवान्ने २६ दैवी गुणोंका वर्णन किया है । वे गुण जिस व्यक्तिमें अधिक-से-अधिक घटते हुए दिखायी दें, उसके हाथमें आप अपना जीवन दे दें । यह बात करनेकी है; सचमुच जीवनकी इसीमें सार्थकता है । भोग भोगते हुए ही यदि मनुष्य-जीवन भी समाप्त हुआ तो फिर हमारे एवं कुत्तेमें क्या अन्तर है ? पशु भी भोग भोगते हैं, हम भी भोग भोगते हैं । शास्त्र तो कहते ही हैं, अब वैज्ञानिकोंने भी यह सिद्ध किया है कि भोग भोगनेमें पशुओंको भी उतना ही आनन्द मिलता है, जितना मनुष्यको । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको शीघ्र-से-शीघ्र अपना मनुष्य-जीवन सफल बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये । यदि सोचते-सोचते ही समय बीत गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा,—ऐसा ऊँचे-ऊँचे संतोंका अनुभव है । वे संत कभी झूठ नहीं बोले, उनका कोई भी स्वार्थ नहीं था । वे ऐसा कहते हैं तो हमें मान लेना चाहिये कि वस्तुतः शीघ्र-से-शीघ्र मनुष्य-जीवनके असली लक्ष्यको प्राप्त करें । इसीमें हमारी सफलता है । बस, गम्भीरतासे विचार करें एवं जीवनको प्रभुके हाथमें समर्पण कर देनेकी शुद्ध लालसा लेकर आगे बढ़ें ।

भगवान्से प्रार्थना करें—'नाथ ! संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम उत्पन्न कर दो ।'

हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोग भगवान्से प्रार्थना करें—'प्रभो ! अत्यन्त पामर, दीन-हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा

प्रकाशित करो । नाथ ! तुम्हारे जन—संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो ।' प्रतिदिन प्रार्थना करें । प्रार्थनासे बड़ा काम होता है । ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् न दे सकें । ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें । वे असम्भवको सम्भव, एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं । पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है—

हरिसे लागा रहु रे भाई । तेरी बनत-बनत बनि जाई ॥

भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई ।
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहें, नाथ ! भलाई ? ॥

'नाथ ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य-निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता ? तब मेरे नाथ ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो ? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो ।'

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं । जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्में—विनोदकी भाषामें कहनेपर यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें । अब हम सोचें—जीत किसकी होगी ? एक ओर अखिलब्रह्माण्डपति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा । इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्की होगी ।

तौल

[रूपक कहानी]

(प्रेषक—श्रीभगवानप्रसादजी तिवारी)

बोधीराम बहुत परीशान है; क्योंकि वह खरे स्वभावका आदमी है । लकड़ी, साग-तरकारी और किरानेसे लेकर सोने-चाँदी एवं कपड़ेतकके व्यापारियोंपर उसे बड़ी चिढ़ है । चाहे नये पैसोंका चलन हो या नये नाप-तौलोंका, व्यापारियोंकी सभीमें सब समय चाँदी चित है । ये लोग प्रत्येक परिवर्तनपर चीजोंके भाव बड़ी खूबसूरतीसे बढ़ा देते हैं और तौलमें कमी कर देते हैं । तौलके नये बाट अब चलते हैं, परंतु ग्रामीण जन अभी सेर, पाव, छटाँक आदि शब्दोंका प्रयोग करके ही सौदा खरीदते हैं । सेर अर्थात् किलोग्राम, पाव अर्थात् ढाई सौ ग्राम और छटाँक अर्थात् पचास ग्राम । बोधीरामने किरानेकी दूकानपर एक पाव जीरा माँगा । दूकानदार दो सौ ग्रामके बजन भर जीरा देने लगा । बोधीरामने आपत्ति की और कहा कि '२५० ग्राम जीरा दो ।' इसपर झगड़ा हो गया और इतना बढ़ गया कि खासी भीड़ इकट्ठी हो गयी । एक संत भी कहींसे आते हुए उस भीड़में रुक गये । झगड़नेवालोंको समझानेके हेतु वे आगे बढ़े । संतको हस्तक्षेप करते देखकर सब लोग शान्त हो गये । संतने कहा—'क्यों झगड़ते हो मेरे भाई ? ग्राहक और दूकानदार दोनों ही अपना लाभ छोड़कर हानि प्राप्त करनेके लिये झगड़ रहे हो !' ग्राहकने कहा—'इसमें सरासर मेरी हानि है, महाराज ! मैं पैसे पूरे दे रहा हूँ और दूकानदार मुझे ५० ग्राम जीरा कम दे रहा है ।' संतने कहा—'अच्छा ! तुम सब लोग आँख बंद करके बैठ जाओ ! मैं तुम्हें इसके रहस्यका दर्शन कराता हूँ ।' जन-समुदाय आँख बंदकर बैठ गया । संतने एक लोटा जल अभिमन्त्रितकर उससे समुदायको परिषिद्ध कर दिया और सभीको आँख खोलनेके लिये कहा । लोगोंने देखा सामने प्रत्यक्ष नाटक हो रहा है ।

तराजूके एक पलड़ेपर कबूतर बैठा है । समीपके वृक्षपर बाज पक्षी है और तराजूके दूसरे पलड़ेपर राजा शिवि अपने हाथों अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखते जा रहे हैं, परंतु सारे शरीरका मांस भी कबूतरके बराबर न हो सका । बाज पक्षी बोल उठा—''रहने दो, राजन् ! बस करो, अब तुम्हारे शरीरमें कुछ भी शेष नहीं रहा । तुम

यह कह दो कि 'मैं पूरी तौल देनेमें असमर्थ हूँ' मैं प्रसन्नता-पूर्वक कम तौलसे ही संतुष्ट हो जाऊँगा।'' राजा शिवि बहुत दुखी होकर बोले—'मुझे धर्मच्युत होनेका परामर्श मत दो, पक्षी! कम तौल देकर मैं तुम्हारा ऋणी नहीं रहना चाहता। ऋण ही संसारके बन्धन एवं आवागमनका कारण है। यह शरीर नश्वर है। इसके द्वारा जीवन रहते हुए आत्मोद्धारका प्रयत्न कर लेना श्रेयस्कर है। यह लो, मैं अपना सम्पूर्ण शरीर तराजूको अर्पण करता हूँ।' राजा शिवि जैसे ही तराजूके पलड़ेपर बैठनेको उद्यत हुए कि वह कबूतर बन गया देवराज इन्द्र और बाज बन गया धर्मराज! दोनोंने राजाके उचित तौल और शरणागतरक्षाकी सराहना करते हुए उन्हें पुष्ट-शरीर कर दिया।

(पटाक्षेप) लोगोंने दूसरा दृश्य देखा—

बावन अङ्गुलके छोटे-से भगवान् दैत्यराज बलिसे तीन डग भूमिकी याचना कर रहे हैं। राजा बलि उदारहृदयसे कहते हैं—'तीन डगकी बात मत करो, वटुक! तुम्हें जितनी जमीन चाहिये, ले लो।' भगवान् बोले—'नहीं, मुझे तीन डग भूमि ही चाहिये, राजन्! सच्ची नाप-तौलको मैं प्रधानता देता हूँ।' राजा बलिने उपहासपूर्वक कहा—'अच्छा, वटुक! ले लो तीन डग भूमि! अच्छी बड़ी-बड़ी डगोंसे नाप लेना।' वटुकने मुस्कराकर कहा—'हाँ, राजन्! तुम्हारी आज्ञासे मैं बड़ी डगोंसे नापनेका प्रयत्न करूँगा।' लोगोंने देखा कि वामन महाराजकी एक डग इतनी लंबी गयी कि उससे ऊपरके सातों लोक नप गये और दूसरी डगसे नीचेके भी सातों लोक। अब तीसरी डगके लिये पूछ रहे हैं राजा बलिसे—'तीसरी डगसे क्या नाप लूँ, राजन्!' राजा बलि अवाक्! भगवान् बोले—'कोई दुःखकी बात नहीं, राजन्! तुम स्वीकार कर लो कि मैं तीन पग भूमि देनेमें असमर्थ हूँ। मैं इसपर संतुष्ट हो जाऊँगा।' राजा बलि दुःखित होकर बोले—'भगवन्! पूरी नाप न देनेवाला व्यक्ति ऋणी होता है और उस ऋणको चुकानेके लिये कई बार कई योनियोंमें जन्म लेकर भुगतते रहना पड़ता है। आप तीसरा पग मेरे शीशपर रखकर मेरे धर्मको बचायें।' भगवान्ने राजा बलिकी नेक-नीयतपर प्रसन्न होकर उनके दरवाजेपर रक्षकका कार्य किया।

(पटाक्षेप) तीसरा दृश्य प्रारम्भ हुआ—

ब्राह्मणदेव कह रहे हैं—'अरे सदनवा! तौलनेका यह पत्थर तू मुझे दे दे।' सदन ईश्वर, गौ एवं ब्राह्मणका भक्त है। उसने बाटका वह पत्थर सहर्ष ब्राह्मणको दे दिया। शालग्रामको प्राप्तकर विप्र प्रसन्नतापूर्वक उनका पूजन करने लगे। तीसरे दिन ब्राह्मणको स्वप्नमें शालग्राम भगवान् आदेश देते हैं कि 'प्रातःकाल होते ही तुम मुझे सदनके घर पहुँचा दो। सदनके पाससे निकल आनेपर मैं दुखी हूँ।' ब्राह्मणने कहा—'भगवन्! सदन तो कसाई है—मांसविक्रेता है, अत्यन्त निकृष्ट व्यापार है उसका, आश्चर्य है कि आप उसके पास सुखी थे और मेरे पास दुखी हैं। मैं तो वेदपाठी, कर्मकाण्डी उच्चवर्णका विप्र हूँ और आपका पुजारी हूँ। आप मेरी सेवा स्वीकार नहीं कर रहे हैं, भगवन्!' भगवान् बोले—'भाई! मुझे लोगोंकी नेक-नीयतीसे मतलब है। व्यापार या कोई भी कार्य मनुष्य अपने उदर-पोषणके लिये करे, परंतु ईमानको दृष्टिमें रखकर। सदन बधिक नहीं है। वह मांस खरीदकर साधारण मुनाफेसे बेचता है। वह मुझे बाट बनाकर मेरी तौलभर सचाईसे सौदा देता है। वह स्वयं शाकाहारी है और सदैव मेरा मानसिक नाम-जप करता रहता है। इसलिये वह मुझे बहुत प्रिय है। तुम मुझे शीघ्र वहाँ पहुँचा दो।'

लोगोंने देखा कि शालग्राम लिये हुए ब्राह्मणदेव सदनके घर पहुँचे। सदनके भगवान् फिर तराजूके बाट बन गये। सदन ब्राह्मणके चरणोंपर और ब्राह्मण सदनके चरणोंपर नत-मस्तक हो रहे थे।

संतने ताली बजायी, दृश्य समाप्त हो गये। लोगोंकी समझमें अब नाप-तौलकी महिमा आ गयी। कोई भी अब एक दूसरेका ऋणी नहीं रहना चाहता था। पूरी नाप, पूरी तौल और पूरे पैसे देनेके अभ्यस्त तो लोग हो ही गये; साथ ही जिसको जिसका जितना भी कुछ देना था, याद कर-करके एवं खोज-खोजकर चुकानेकी फिक्रमें लग गये। लोग अपने ईमानको प्रतिदिन तौलने लगे।

परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

(१)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने कई प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर क्रमशः नीचे लिखा जाता है—

(१) आपने अपने जीवनकी चर्चा करते हुए यह लिखा है कि 'मुझे क्रोध आ जाता है, इसकी ओषधि चाहिये।' क्रोधकी शान्तिके लिये निम्नलिखित बड़े ही सुगम उपाय हैं। इनमेंसे जो-जो आपकी प्रकृतिके अनुकूल पड़ें, उन्हें काममें लाकर देखें—

(क) अपने साथियोंसे या अन्य किसी भी व्यक्ति या वस्तुसे सुखकी आशा न करना और अपने कर्तव्य-पालनद्वारा अपने घरवालोंका और अन्य लोगोंका भी हित करते रहना।

(ख) प्रत्येक घटनामें दूसरोंकी भूल न देखकर अपनी भूलको सूक्ष्मदृष्टिसे देखना और पुनः वैसी भूल न करनेका दृढ़ संकल्प करना।

(ग) अपना किसीपर कोई अधिकार न मानना अर्थात् अधिकारके अभिमानका त्याग कर देना।

(घ) क्रोध उत्पन्न होते ही मौन धारण कर लेना और उस घटनापर विचार करनेमें लग जाना।

(च) दूसरोंसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा न करना और दूसरोंके मनकी बात जो धर्मानुकूल है, उसे जहाँतक हो सके पूरी करते रहना।

(छ) सबको प्रभुकी प्रजा समझकर, सबमें प्रभु विराजमान हैं—इस भावसे सबके साथ प्रेम करना। किसीमें भी ममता और आसक्ति न करना।

(ज) अपने मनके विपरीत जो भी हो, उसे भगवान्‌की कृपा समझकर प्रसन्न रहना।

(झ) क्रोधसे मुक्ति पानेके लिये नामजप भी बड़ा सहायक है।

(ट) यदि अपने स्वार्थका त्याग कर दिया जाय तो क्रोधकी जड़ ही कट सकती है।

जबतक आप अपने अभिमानको सुरक्षित रखेंगे और दूसरोंके कर्तव्यको एवं उनके दोषोंको देखते रहेंगे तथा उनके कर्तव्यद्वारा अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा रखेंगे, तबतक क्रोधका नाश होना कठिन है। इसलिये आपको चाहिये कि अभिमानको छोड़ दें, दूसरोंके कर्तव्यद्वारा अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा न करें तथा दूसरोंके दोषोंको न देखें और न उनका वर्णन ही करें। भगवान् सबमें हैं और सभी भगवान्‌के हैं—यह समझकर प्रभुके नाते सबसे हार्दिक प्रेम रखें तभी क्रोधका नाश हो सकता है। क्रोध किसी कर्मका फल नहीं है। यह तो साधकके प्रमादसे ही आता है। अतः इसका नाश करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

(२) न्यायाधीशका पद कोई बुरी चीज नहीं है, बुराई तो उसके घमंडमें है; अतः पद बदलना आवश्यक नहीं। आप अपनी जानकारीके अनुसार, बिना किसी पक्षपातके, ईमानदारी और सचाईके साथ, किसी प्रकारकी मान-बड़ाई या अर्थके लोभमें न पड़कर एवं किसीसे भी भयभीत न होकर अभियुक्तोंको कानूनानुसार दण्ड देते हैं और मुकदमोंको जहाँतक बनता है जल्दी-से-जल्दी निपटा देते हैं, यह बड़ी अच्छी बात है। इस भावसे किये जानेवाले न्यायमें निरपराधको दण्ड मिलनेकी गुंजाइश कम रहती है।

(३) प्रतियोगिता परीक्षामें बैठना, अपना पद बढ़ानेके लिये उचित चेष्टा करना तो बहुत ही आवश्यक है,

उसे करना ही चाहिये एवं उन्नतिसे निराश भी नहीं होना चाहिये। पर परिणाममें जो कुछ हो, उसे भगवान्‌की कृपा समझकर हर हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। ऐसी कोई भी चेष्टा नहीं की जानी चाहिये, जो धर्मके विरुद्ध हो तथा जिसमें झूठ, कपट आदिकी क्रिया हो या किसीका अहित हो।

(४) आध्यात्मिक कल्याणके मार्गमें प्रगतिकी प्रेरणा तो प्रभुकी कृपासे जीवनकी प्रत्येक घटनाद्वारा मिलती रहती है। साधकको चाहिये कि वह प्रभुपर अटल विश्वास करके उनका हो जाय। एक प्यारे प्रभुको ही अपना माने। सबके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसे तोड़कर अपने नित्य-सम्बन्धी प्रभुसे सम्बन्ध जोड़ ले; ऐसा करनेसे उनके स्मरणमें स्वाभाविक रुचि बढ़कर उनका प्रेम बड़ी सुगमतासे प्राप्त हो सकता है।

(५) दूसरोंके दोषोंको न देखना, किसीसे भी घृणा या द्वेष न करना, अपने दोषोंको सावधानीके साथ देखना और उनसे दुखी होकर उनको मिटा देना, दूसरेके दोषोंको देखकर उसमें रस न लेना तथा किसीकी भी निन्दा न तो करना और न सुनना ही दोषोंकी निवृत्तिका उपाय है।

शेष भगवत्कृपा।

(२)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

१—श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को मानकर अपने आपको उनके समर्पण कर देना तथा अन्य किसी भी व्यक्ति, पदार्थ आदिको अपना न मानकर एकमात्र भगवान्‌को ही निरन्तर स्मरण करना—यह संक्षेपमें भक्तिके साधन-का स्वरूप समझना चाहिये।

२—'मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, अहं-भावना बनी है एवं दूसरोंकी त्रुटियाँ देखनेमें सुख मिलता है'—इन दोषोंसे छुटकारा वास्तवमें इन्हें अवगुण मानकर इनसे घृणा करनेपर स्वयमेव हो जाता है। संसारमें आसक्ति रहनेसे ही तरह-तरहके संकल्प-विकल्प होते हैं। अतएव संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं अनित्य समझकर उससे वैराग्य करना चाहिये। अहं 'मैं हूँ'—यह भावना हमारी मानी हुई है, वास्तवमें यह बात नहीं है। इसमें अज्ञान ही कारण है, जिसका नाश ज्ञान होते ही हो जाता है। इसलिये ईश्वरविषयक ज्ञानके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये एवं धार्मिक पुस्तकें, जैसे गीता आदिका स्वाध्याय करना चाहिये और उनके भावोंको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। दूसरेके दोषोंका दर्शन करनेमें सुख मिलता है, यह भी अज्ञान ही है। इसका परिणाम बहुत बुरा है। दूसरोंके अवगुण देखनेसे वे अवगुण अपनेमें आते हैं एवं जिसके अवगुण देखे जाते हैं, उससे द्वेष होता है। इसलिये सबके गुणोंका ही दर्शन करना चाहिये ताकि अधिकाधिक प्रेम बढ़े एवं अपनेमें गुणोंका ही प्रवेश हो। जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती है, तबतक ये अवगुण किसी-न-किसी रूपमें रह ही जाते हैं और भगवान्‌के मिलनेमें बाधक होते हैं। इसलिये इन अवगुणोंका परित्याग करने तथा ईश्वरकी प्राप्ति करनेके लिये शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये।

३—भगवान्‌का जो हमसे नित्य सम्बन्ध है, उसे स्वीकार कर लेनेपर अर्थात् भगवान्‌को सर्वस्व मान लेनेपर ही उनका नित्य स्मरण बना रह सकता है। जो भगवान्‌से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, उसके लिये कोई वातावरण बुरा नहीं रहता है। उसे मुक्ति मिल जाती है—इसमें तो कहना ही क्या है; साथ-ही-साथ प्रभुका प्रेम भी मिल जाता है।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) सृष्टि पहले कभी नहीं थी—ऐसी बात नहीं है । सृष्टि और प्रलय अनादि हैं । प्रलयके बाद जब भगवान् पुनः नयी रचना करते हैं, तब वे पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपमें नाना सृष्टिको उत्पन्न करते हैं । भगवान्का मन न तो चञ्चल होता है, न वे किसीको अपनी ओरसे कष्ट देते हैं । वे तो सबपर कृपा-ही-कृपा करते हैं । अतः जीवोंके दुःख-सुखके विषयमें भगवान्पर दोषारोपण करना अज्ञता है ।

(२) बुरा कर्म करनेवालेको जो भगवान् दण्ड देते हैं, यह भी उनकी कृपा ही है । वे तो दण्ड देकर भी उसका सुधार ही करते हैं । यदि वे अपना अपराध क्षमा कराना चाहें, पुनः अपराध न करें तो भगवान् क्षमा भी कर देते हैं ।

(३) भगवान्के 'हुक्म' बिना पेड़का एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह सर्वथा सत्य है । भगवान्ने ही हरेक व्यक्तिको कर्म करनेकी शक्ति दी है और उन्होंने ही साथ-साथ विवेक दिया है तथा कर्मका विधान भी बना दिया है । उस शक्तिका सदुपयोग करना या दुरुपयोग करना—इसमें केवल मनुष्यको दया करके इसलिये स्वतन्त्रता दे दी है कि वह शक्तिका सदुपयोग करके अपना उद्धार कर ले । पर कोई भगवान्की कृपासे प्राप्त विवेक और सामर्थ्यकी अवहेलना और दुरुपयोग करे तो उसका बुरा फल उसीको भोगना पड़ता है ।

भगवान् सबमें व्यापक हैं, इसीलिये वे सबको सत्प्रेरणा देते रहते हैं । पर उस प्रेरणाका अनादर करके कोई न माने तो भगवान् जबरदस्ती नहीं करते, दण्ड देते हैं; यह उनका विधान है ।

जो पाप (घोर) कर्ममें बिना इच्छाके मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, उसमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है और यह काम मनुष्यका महान् शत्रु है । यह बात भगवान्ने गीता अध्याय ३ श्लोक ३६ से ४३ तक अर्जुनके पूछनेपर अच्छी तरह समझायी है । जो बुरा काम आप कामकी प्रेरणासे करेंगे उसके जवाबदार अवश्य आप रहेंगे और रहते हैं । उसका बुरा फल आपको भोगना पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । जो अच्छे कर्मोंका फल भोगेगा उसीको तो बुरेका फल भोगना पड़ेगा; दूसरा कौन भोगेगा ?

भगवान्की प्राप्ति होनी ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है; यह सर्वथा सत्य है ।

जो इस संसाररूप मेलेसे निकलना चाहता है, इसमें फँसा रहना नहीं चाहता, जिसे इसमें रस नहीं आता, जो भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर सकता, उसे परमदयालु भगवान् अवश्य ही हाथ पकड़कर अपने पास खींच लेते हैं; इसमें कोई संशय नहीं । पर कोई उनके वियोगमें व्याकुल हो तब तो !

भगवान् यह नहीं देखते कि इसकी बुद्धि प्रबल है या कमजोर । वे देखते हैं उसके हृदयका भाव । अतः हरेक मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है । शेष भगवत्कृपा ।

भूल-सुधार

'कल्याण' के गत पाँचवें (मई १९७१के) अङ्कके पृष्ठ ८९५ के दाहिने स्तम्भकी नीचेसे ११वीं पंक्तिमें संत सुजानके नामसे जो वाक्य उद्धृत किया गया है, वह वास्तवमें महर्षि सनत्सुजातके द्वारा राजा धृतराष्ट्रके प्रति कहा गया था, न कि संत सुजानके द्वारा महाराज युधिष्ठिरसे । दृष्टिदोषसे छपी हुई इस भूलको कृपया पाठक-पाठिकाएँ सुधार लेंगी । —सम्पादक

उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ९१७ से आगे]

(२) यह उपेक्षा क्यों ?

अभी कुछ दिन पहलेतक तो पाश्चात्त्योंकी भरपूर चेष्टा यही थी कि उपपुराणों क्या, पुराणोंका भी पठन-पाठन या उसपर श्रद्धा-विश्वास कहीं किसी प्रकार कुछ भी न रहने पाये। वे पुराणोंको 'गप', 'नानीकी कहानी' और 'बच्चोंकी बातें' कहते थे।* भारतीय इतिहासके लिये उन्होंने इन्हें सर्वथा अप्रमाण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया और ईंट, पत्थर, मुद्रा, शिलालेख एवं खुदाइयोंसे निकाली गयी चीजोंके आधारपर मनगढ़ंत इतिहास लिखना आरम्भ किया।† उन्हें केवल भारतकी पराजयका ही इतिहास लिखना अभीष्ट था। पुराणोंमें भारतको विश्वके समस्त आर्यजाति, आर्यधर्म, भाषा, संस्कृति आदिकी उद्गमभूमि, मूलस्थान बतलाया गया था। इन पुराणोंमें भारतीयोंकी दिग्विजयोंकी शौर्यगाथा भरी थी, सच्चा इतिहास था। भला, इसे पाश्चात्त्यलोग कैसे सहन करते ?‡ पर पार्जिटरने देखा कि यह अंधेरखाता

* "The Purāṇas are 'folk-tales', 'Childish legends' without an order and any value and the Hindoos do not possess any historical sense." × × ×

"Until these last years, neither in universities nor in the official books of western indologists appeared any systematic studies on the Purāṇas."

(J. Roger Revier—'Western Orientalism and the Purāṇas')

† "The earlier writers of ancient history with a few exceptions neglected the study of the Puranic literature for want of confidence in its authenticity. Sir William Jones, at the end of the eighteenth century, drew the attention of scholars to the historical value of the literature, when the source of the African river Niles could be traced with the help of the Puranic account of the Nile river in Kuśadwipa, i.e., the modern Nubi. During the first half of the ninteenth century, Wilkins, Captain Trozer, Dr. Mill, James Princep and others opened a new avenue for historical research by the discovery of available epigraphic and numismatic treasures. This also led to the neglect of Puranic studies. (S. D. Gyani: Introduction to the 'Agni-Puran—A study'—p. 35).

‡ 'अमृतबाजारपत्रिका' तथा 'Northern India Patrika' के ६–६–७१ के परिशिष्टाङ्कके पृष्ठ ३ पर सुकुमारी भट्टाचार्यकी पुस्तक 'Indian Theogony'की जोगेशचन्द्रद्वारा समीक्षा प्रकाशित है। 'Truth' १८–६–७१ के पृष्ठ १४७ पर भी इसका कुछ अंश उद्धृत है। इन सबमें अंग्रेजोंकी कूटनीतिपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें द्रविडादि जाति-भाषा-प्रान्त-भेद, उत्तर-दक्षिण-भारत-भेद आदि अनेक झगड़ोंकी जड़ यह अंग्रेजोंका निराधार प्रचार ही है कि 'आर्य मध्यएशियामें रहते थे, प्राकृतभाषा ही संस्कृतकी जड़ है' इत्यादि। इनकी कुछ मूल पंक्तियोंको लिखनेका लोभ संवरण नहीं हो सका, अतः नीचे दी गयी हैं। श्रीजोगेशचन्द्रजी लिखते हैं:—

"The Westerners suffer from some not unnatural complexes and inhibitions to accept the view that India is the land of their forefathers; the religion, languages and culture were all that they took with them from India. This attitude is mainly responsible for propagating the theory that the Aryans came to India from Central Asia, while some of them went to the other parts of the world. This attitude has again led them to designate their languages as Indo-European family of languages in preference to the Aryan family of languages and even to construct a theoretical language, very akin to Sanskrit, as their parent language. But they are not prepared to accept Sanskrit as such.

"For over a century we have been regaled with the story of cattle-raising Cossack type of people living in Central Asia, who suddenly broke away into Europe on the west to become the progenitors of modern Europe, to Russia and India and the South; when they entered India they slaughtered the far more civilized Dravidians, destroyed their civilization and in doing so became civilized themselves; what if the far more civilized Dravidians, who still hold the South India, never mention any such disaster, never display any book or literature of that period, never even mention clash;...A tremendous literature grew on this hypothesis. The idiotic 'Adi Dravida movement' was founded on this

बहुत दिनोंतक नहीं चल सकेगा; अतः उन्होंने पुराणोंका भी आश्रय लेकर इतिहासपर चार पुस्तकें लिख डालीं। अफ्रीकाकी नील नदीके उद्गमके अन्वेषणमें भी पुराणोंसे सहायता मिली थी। अतः विलियम जोन्सने भी इनका एशियाटिक सोसाइटीद्वारा प्रकाशन आरम्भ कराया। तबसे लोगोंका पुराणोंकी ओर कुछ ध्यान जाने लगा। पर म्लेच्छ-यवन-शासनमें प्रायः हजारों वर्षोंकी उपेक्षा आदिके कारण उपपुराणोंका साहित्य तो प्रायः सर्वथा अलभ्य-सा हो गया। डा० हाजराने उधर प्रयत्नका श्रीगणेश तो किया, पर वह प्रगति नहीं कर सका और उपपुराणोंकी समस्या कुछ भी सुलझ न पायी।

कुछ विद्वानोंने दश-लक्षणात्मक महापुराणोंको ही बादका माना है। कुछने लेखके प्रथमांशमें दी हुई उपपुराणोंकी तालिकाके अन्तर्गत कूर्म, वामन, ब्रह्माण्ड, हरिवंश आदिको लुप्त (अन्य) पुराण माना है। कुछने इन्हें भागवत, महाभागवत, देवीभागवत, देवीपुराण आदि-जैसे (एकके ही अनेक पुराण, उपपुराण) होनेकी कल्पना की है। (इनमेंसे तीन पुस्तकें तो प्राप्य हैं, पर देवीपुराण इधर गायब हो रहा है।) स्कन्दपुराणके भी खण्डात्मक तथा स्कन्धात्मक दो रूप प्राप्त हैं ही। पर मानवपुराण, वासिष्ठपुराण आदिसे तो मनुस्मृति, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंका ही अनुमान होता है; क्योंकि इस प्रकारकी पुस्तकोंके निबन्ध-ग्रन्थोंमें भी उल्लेख या उद्धृत वचन आदि (references) प्राप्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त औशनस, कापिल, दौर्वासस, वारुण, परानन्द, रेणुकापुराण आदि नाम इतने कम परिचित हैं कि ये कहीं पुस्तकालयादिमें भी न होंगे। मोरकेद्वारा प्रकाशित 'स्मृतिसंदर्भ'में इनमेंसे कुछ नामोंकी कुछ स्मृतियाँ अवश्य हैं।

(३) श्रीविष्णुधर्मोत्तरकी समस्या

अस्तु, इन उपपुराणोंमें श्रीविष्णुधर्मोत्तर इस समय शुद्ध रूपमें प्राप्त है, यद्यपि सर्वमान्य वैष्णव-साहित्यमें श्रीविष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, श्रीवैष्णवधर्मशास्त्र (विष्णुधर्मसूत्र—इसपर नन्दपण्डितकी संस्कृतकी टीका है। इसके अतिरिक्त वैष्णवधर्मशास्त्र नामका अंश महाभारत अश्वमेध-पर्वमें है—देखिये, दाक्षिणात्य संस्करण या गीताप्रेसके संस्करणका अन्तिम भाग। यह 'वृद्धगौतमस्मृति'के नामसे अलग स्वतन्त्र ग्रन्थरूपमें भी प्रकाशित है; पर इन दोनोंमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है), विष्णुरहस्य, वैष्णवरत्नाकर, विष्णुयामलतन्त्र, वैष्णवकर्णाभरणसंग्रह आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। पर इनमें श्रीविष्णुधर्मोत्तर ही सबसे बड़ा है। इसके ढेर-के-ढेर वचन हेमाद्रि, स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, स्मृतिरत्नाकर, कृत्यकल्पतरु, मदनपारिजातादि निबन्धों तथा प्राचीन टीकाओंमें भी प्राप्त होते हैं। इसमें ८०० तो अध्याय हैं तथा कम-से-कम २० हजार श्लोक हैं। रोचकता तथा सौन्दर्यमें भी यह किसीसे न्यून नहीं है। भगवान् विष्णुकी महिमा तो इसमें सर्वत्र निरूपित है। संगीत, साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला एवं विश्वविज्ञानका भी यह महाकोश या विश्वकोश है। धर्म तथा आचारपर इसमें सैकड़ों अध्याय हैं। (द्रष्टव्य—'कल्याण'का 'धर्माङ्क', पृष्ठ ३०९) वेङ्कटेश्वर प्रेसकी प्रतिमें ऊपर टाइटिलपर इसे 'महापुराण' कहा गया है, पर पुष्पिकामें कुछ नहीं है। यह प्रति केवल दो पाण्डुलिपियोंके आधारपर छपी थी। अतः कुछ अंश खण्डित है। बड़ौदासे इसका प्रकाशन आरम्भ हो गया है, पर ग्रन्थ पूरा नहीं हुआ है। अतः इसके संशोधनकी समस्या अभी शेष ही है।

(४) पुराणोंमें श्रीविष्णुधर्मका उल्लेख

पुराणोंमें भी उपपुराणोंके विषयमें बहुत कुछ सामग्री प्राप्त है। विष्णुपुराण ३। ६। २४—३० में पुराणाचार्योंकी विस्तृत सम्प्रदायपरम्पराका उल्लेख है। मत्स्यपुराण ५३। ५९—६३ में नरसिंहपुराणको पद्मपुराणका ही उपभेद या उपपुराण बतलाया गया है। इसी प्रकार साम्ब-पुराणको भविष्यपुराणका, नन्दिपुराणको स्कन्दपुराणका और आदित्य या सौरपुराणको भी कहीं ब्रह्मका और कहीं भविष्यका उपभेद या उपपुराण बताया गया है—

> पाद्मे पुराणे यत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम्।
> तच्चाष्टादशसाहस्रं नरसिंहमिहोच्यते॥
> नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते।
> नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते॥

इत्यादि (मत्स्य० ५३। ५९-६०; सौरपुराण ७। १२)

---

hypothesis. Sanskrit was declared to be a successor of Prakrit only. This book shows a glimmer of sense and one feels that this long reign of lie founded by European scholars, nurtured by Max-Muller, avidly swallowed by our own imitators—that long reign is now about to end."

('Truth'—Calcutta—XXXIX. 10)

इसी प्रकार नारदपुराण ९५ । १६—२२ में विष्णुधर्मोत्तरको विष्णुपुराणका ही भाग बतलाया गया है। इस अध्यायके १से १६श्लोकोंतक तो विष्णुपुराणके ६ अंशोंकी सूची है; फिर, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, स्पष्ट बतलाया गया है कि इसके आगे श्रीविष्णुधर्मोत्तर है और वह धर्म, अर्थ, व्रत, यम-नियम, ज्योतिष, वेदान्तादि सर्वलोकोपकारी विद्याओंका महाकोश है—

> अतः परं तु सूतेन शौनकादिभिरादरात् ।
> पृष्टेन चोदिताः शश्वद्विष्णुधर्मोत्तराह्वयम् ॥
> नानाधर्मकथाः पुण्या व्रतानि नियमा यमाः ।
> धर्मशास्त्रं चार्थशास्त्रं वेदान्तं ज्यौतिषं तथा ॥
> तथा नानाविद्यास्तथा प्रोक्ताः सर्वलोकोपकारिकाः ॥
>
> (नारदपुराण, पूर्वभाग ९५ । १७—२०)

लिङ्गपुराणको छोड़कर सभी पुराण विष्णुपुराणको २३ या २४ हजार श्लोकोंका ग्रन्थ बतलाते हैं, पर गीताप्रेस, बंगवासीप्रेस, नवलकिशोरप्रेस तथा वेङ्कटेश्वरप्रेस आदिके संस्करणोंमें विष्णुपुराणमें केवल ६ हजार ४ सौ श्लोक ही प्राप्त हैं।* अतः निश्चय ही नारदादिपुराणोंके अनुसार इसमें विष्णुधर्मको भी सम्मिलित मानना होगा। इस प्रकार भी पुराण-उपपुराणोंमें कोई विशेष भेद नहीं दीखता।

(५) खिलांश भी पुराण ही हैं।

'कल्याण' ४५ । ३ में 'नरसिंहपुराण' शीर्षक लेखकी अन्तिम टिप्पणीमें वेद-पुराणोंके खिलभागोंकी चर्चा है। इसी प्रकार सौर आदि उपपुराणोंमें उन्हें पुराणोंका खिलांश कहा गया है।* जैसे श्रीसूक्तादि ऋग्वेदके ही अंश हैं, वैसे ही ये खिलांश भी इन पुराणोंके ही अंश हैं। महाभारत १२ । ३१८ । १० तथा भागवत १ । ५ । ४ के 'प्रतिष्ठाख्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज' आदिमें यही बात कही गयी है। इसकी टीकामें पण्डित नीलकण्ठ तथा तैत्तिरीयारण्यक, प्रपा० १० । १ के आरम्भमें आचार्य सायणने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इसी प्रकार खिलपर्व होनेपर भी हरिवंशको भी महाभारतका ही अंश माना जाता है। 'खिल' न रहे तो वस्तु निखिल या अखिल न बन सके। अतः महाभारतके पारायणमें 'हरिवंश'का भी पाठ अनिवार्य माना गया है। इसी प्रकार 'खिल' भागोंके बिना वेदोंका पाठ भी अपूर्ण ही रहता है। शुक्लयजुर्वेदका तो बीचका २६वाँ अध्याय ही 'खिल' संज्ञक है—'इदानीं खिलान्युच्यन्ते' (महीधरभाष्य)। ऐसी दशामें यदि विष्णुधर्मोत्तर आदि उपपुराण खिलांश हों तो भी परम पूज्य हैं।

(६) रचनाकाल

पाश्चात्य दृष्टिकोणके अनुसार डा० हाजराने इसका समय ४थी और ५वीं शतीके बीचका माना है—

"I am inclined to place the date of composition of the Viṣṇudharmottara between 400 and 500 A. D. ('Aśwamedha' p. 199 and the Journal of the University of Gauhati, Assam Vol. III, 1952, p. 42)

किंतु यह पाश्चात्य दृष्टिकोण है। इसके अनुसार तो ब्रह्मवैवर्तको १४वीं शतीतककी रचना माना गया है। इस तरह अपने मतानुसार ये लोग 'विष्णुधर्म'को परम प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं; पर वास्तवमें इसका रचना-काल 'महाभारत' युद्धके कुछ ही बाद अर्थात् आजसे ५ सहस्र वर्ष पूर्वके आस-पास होना चाहिये।

---

* डा० काणेने इसपर कई मतोंकी बात लिखी है, यथा—

"Viṣṇuchitta says (on Viṣṇupurāṇa III. 6. 20—22) that the extent of Viṣṇupurāṇa is various, given as 8, 9, 10, 22 & 24 thousand ślokas, while the Bhāgavata, the Brahmavaivarta and the Padmapurāṇa say that it contains 15 thousand. The Skanda (V. 3) and the Matsyapurāṇa (53) say that it contains 16 thousand."

(History of Dharmaśāstra, Volume I, p. 63)

पर टीकाकारका यह कथन ठीक नहीं है। डा० काणेको भी पुराण देख लेने चाहिये थे। वास्तवमें (लिङ्गपुराणको छोड़) विष्णुपुराणकी श्लोकसंख्या सर्वत्र प्रायः २३ सहस्र ही निर्दिष्ट है। द्रष्टव्य, अग्निपुराण २७२ । ३ इत्यादि।

* According to Saurapurāṇa the Upapurāṇas are the Khilas or supplements of the Purāṇas and it also calls itself as the Khila of Brahmapurāṇa:-

> खिलान्युपपुराणानि यानि चोक्तानि सूरिभिः ।
> इदं ब्रह्मपुराणस्य खिलं सारमनुत्तमम् ॥
>
> (Saurapurāṇa 1. 12; 'Purāṇas and their references')

(७) इसकी आचार्य-परम्परा

भगवान् व्यास ही पुराणोपपुराणके आद्याचार्य हैं। रोमहर्षण इनके शिष्य थे। इन्हें लोग 'सूत' भी कहते थे। इनके सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, शांसपायन, अकृतव्रण और सावर्णि—ये छः शिष्य थे। इनमें पिछले तीनों संहिताकर्त्ता रहे हैं। पर इनका मूल ग्रन्थ रोमहर्षणका ही संस्करण था। इन सबके सम्मिलित प्रयासके परिणाम ही ये पुराण-उपपुराण हैं।

(८) विष्णुधर्मकी महिमा

इसकी महिमा अनन्त बतलायी गयी है। इसके एक अध्यायके पाठका फल पुष्करतीर्थमें उपवास कर चारों वेदोंके पारायण एवं श्रवण करनेके समान है। उसके सब पितर भी तर जाते एवं कृतकृत्य हो जाते हैं—

श्रुत्वाध्यायं तदाप्नोति पुराणस्यास्य भक्तितः।

अब अगले अङ्कमें इसमें निरूपित विस्तृत वैष्णवादि सिद्धान्तों तथा ज्ञान-विज्ञानके सार तत्त्वोंपर संक्षेपसे विचार किया जायगा तथा यह भी दिखलाया जायगा कि इससे प्रभावित होकर ठीक इसी प्रकारकी कितनी विशाल साहित्य-राशिका आगे चलकर निर्माण हुआ।

(क्रमशः)

आध्यात्मिक साधनाके त्रिदोष

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक प्राणी उन्नतिकी ओर अग्रसर होना चाहता है, पर जहाँतक बाधक तत्त्वोंका सम्यक् परिज्ञान न हो एवं उनको दूर न किया जाय, उन्नति असम्भव है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी उसके बाधक तत्त्वोंका जानना परमावश्यक होता है। इस लेखमें वैसे तीन दोषोंपर संक्षेपसे प्रकाश डाला जा रहा है—(१) ममत्व, (२) कपट और (३) अवगुण-ग्राही दृष्टि। जहाँतक ये दोष रहते हैं, वहाँतक साधना अग्रसर एवं फलवती नहीं होती।

१. ममत्व—जहाँतक सांसारिक पदार्थोंमें आत्माकी आसक्ति रहेगी, आत्माका लक्ष्य बहिर्मुखी रहनेके कारण आत्मानुभवका मार्ग बंद ही रहेगा। इसलिये सारे भौतिक पदार्थों एवं भावोंसे अपनी आत्माको अलग, भिन्न समझकर उनके आकर्षणको रोकना बहुत ही आवश्यक है। पदार्थोंकी आसक्ति हटते ही आत्माके स्वरूपका दर्शन एवं अनुभव होगा, जो आत्मोन्नतिका प्रथम सोपान है।

जिन-जिन वस्तुओंको आत्मा अपनी समझता है, उनकी प्राप्ति, अभिवृद्धिमें हर्ष एवं विनाश तथा क्षीणतामें शोक होता है। जहाँ ममत्वका भाव नहीं, वहाँ हर्ष और शोकका प्रादुर्भाव नहीं होता। क्वचित् होता भी है तो अत्यल्प एवं क्षणिक। आत्म-द्रव्य वास्तवमें इन पाञ्चभौतिक द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है और दृश्यमान सभी पदार्थ भौतिक हैं; क्योंकि पुद्गलके सिवा पदार्थ अरूपी हैं। अरूपी पदार्थपर आसक्ति नहीं होती। जिसे हम देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं और स्पर्श करते हैं, अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंद्वारा जिनके साथ हम अपना किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हींका मन विचार करता है, अच्छे या बुरे, मेरे या तेरेकी कल्पना करते हैं और उस कल्पनाके द्वारा ही आत्मा अपने स्वरूप (विचार) से च्युत होकर उनके प्रति आकर्षित होता है। इसीलिये 'मैं और मेरा' इस मोहका मूल माना गया है।

पर पदार्थके संयोगसे आत्मा विभाव दशाको प्राप्त होता है। इसलिये सर्वसङ्ग-परित्याग—अपरिग्रहता, निर्ग्रन्थताको जैनधर्ममें प्रमुख स्थान दिया गया है। जैन तीर्थंकर स्वयं इनका आदर्श उपस्थित

करते हैं, अर्थात् साधनाका प्रारम्भ सर्वसङ्ग-परित्यागसे ही करते हैं। आसक्तिका परिहार पदार्थों—द्रव्योंके स्वरूपज्ञान एवं परिणामोंके ज्ञान-द्वारा होता है। इनका मूल तन्त्र है—**'एगोहं नत्थिमे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सवि'** मैं किसी का नहीं, मेरा कोई नहीं—मेरी आत्मा अकेली है।' मनुष्य जरा-सा विचार करे तो इस अकेलेपनका सहज अनुभव हो जाता है। जन्मके समय आत्मा अकेला ही उत्पन्न होता है। मृत्युके समय भी सारे पदार्थोंको छोड़कर वह अकेला ही परलोक जाता है। रोगादि दुःख भी आत्माको अकेले ही भोगने पड़ते हैं। अतः आत्मा अकेला ही है। बाह्य संयोग—धन-दौलत, कुटुम्ब-परिवार—यहाँतक कि देह भी अपना नहीं है। तब उनपर ममत्व रखना मूर्खता एवं अज्ञानता नहीं तो क्या है? योगी पुरुषोंने सबसे बड़ी भूल इसीको बतलाया है। जो पदार्थ अपने नहीं, उन्हें अपना मान लेना अपने स्वरूपको भूल जाना है।

बहिर्मुखी वृत्तिके कारण आत्माकी सारी शक्ति बाह्य पदार्थोंकी ओर लगी है और वह उनकी लाभ-हानिमें ही सुख-दुःख मान बैठा है, अन्यथा सुख अथवा आनन्द कहीं बाहरसे आनेवाली चीज नहीं। अपने वास्तविक स्वरूपके अज्ञानके कारण ही वह इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा है। यदि मैं अकेला हूँ, कोई भी चीज मेरी नहीं है, तब उनपर आसक्ति कैसी! आनन्द यदि मेरे पास है, तो उसकी प्राप्तिके लिये दौड़-धूप क्यों? इसपर विचार करिये—पौद्गलिक (भौतिक) सभी पदार्थ विनाशी हैं, आत्मा अरूपी एवं अविनाशी है, दृश्यमान सभी चीजें पुद्गलकी बनी हुई हैं; अतः ममत्वको हटाकर आत्माका अन्तर्मुखी होना आध्यात्मिक साधनके लिये परमावश्यक कार्य है।

२. कपट—वस्तुके स्वरूपको अन्य प्रकारसे दिखलाने-का प्रयत्न 'कपट' है। मेरे हृदयमें कुछ और है, बोलता कुछ और हूँ और करूँगा कुछ और ही—यह आत्मोन्नतिका परम बाधक है। इस प्रपञ्च-जालसे आत्मा बड़ी मलिन हो जाती है। भूमिकाकी शुद्धिके विना सुभग चित्रोंका आलेखन सम्भव नहीं। इसी प्रकार आत्माका सरल—निष्कपट होना उसकी भूमिका-शुद्धिका द्योतक है। जो अधिक वक्ता है, उसके पीछे भ्रम फैलानेकी वृत्ति काम करती है, उसकी सद्वृत्तियाँ पनप नहीं सकतीं। चित्त बहिर्मुखी बना रहता है। कैसे अपने दोषोंको छिपाया जाय, दूसरे-को ठगा जाय—इसीमें चित्त फँसा रहता है। वहाँ सुविचारोंको अवकाश कहाँ! जो पापी है और अपने पापको छिपानेका प्रयत्न कर लोगोंके समक्ष अपनेको धर्मी दिखलानेकी कोशिश करता है, उसका सुधार बहुत ही कठिन है।

३. अवगुणग्राही दृष्टि—यह भी एक बड़ा भारी अवगुण है। इसके कारण मनुष्य अवगुणोंकी ओर अग्रसर होता है। ऐसा आत्मा हजार गुणोंको नहीं देखता, बल्कि छिद्रान्वेषी होकर अवगुणकी ओर ही झुकता है। यह नहीं सोचता कि दोष हम सबमें हैं, किसीमें कम और किसीमें अधिक। और पराये दोषोंको देखनेसे लाभ ही क्या? एक संतने इस सम्बन्धमें बहुत ही सुन्दर कहा है—'अरे आत्मा! दूर जलती हुई अग्निको क्या देखता है? स्वयं तेरे पैरोंमें अग्नि सुलग रही है, उसे देख। पराये मैलमें कपड़े धोनेसे वे उज्ज्वल कैसे होंगे! थोड़े-बहुत अवगुण सभीमें होते हैं, तेरेमें भी हैं; तब अपने दोषोंको क्यों नहीं देखता, परायी निन्दामें क्यों लगा है? निन्दा करनेकी यदि तेरी आदत ही पड़ गयी है, तो अपने दोषोंकी निन्दा कर। अतः अपने दोषोंकी ओर दृष्टि डाल और दूसरोंकी निन्दाको छोड़।'

'मनुष्य जैसे विचारोंमें रहता है, वैसा ही बन जाता है।' अवगुणोंको ढूँढ़नेकी दृष्टि रखनेसे वह स्वयं अवगुणोंका भाजन हो जाता है। इसलिये इस दृष्टि-दोषका निवारण कर हमारे लिये अपनी दृष्टिको गुणग्राहिणी बनाना आवश्यक है। अवगुण देखने हों तो अपने देखो, जिससे उन्हें छोड़नेकी भावना जगे तथा आत्मा दोषरहित बने। औरोंके तो गुण ही देखो, जिससे स्वयं गुणी बनो और गुणोंके प्रति तुम्हारा आकर्षण बढ़े।

इन तीनों दोषोंकी विवेचनाका सार यही है कि इनके कारण आत्माकी दृष्टि पदार्थोंकी ओर संलग्न रहती है, जिससे आत्माको बढ़नेका अवकाश ही नहीं मिलता, विकास नहीं होता। अतएव बहिर्मुखी वृत्तियोंकी ओरसे हटकर अन्तर्मुखी होनेका लक्ष्य रखा जाय, ममत्व, कपट और अवगुणग्राहिणी दृष्टिसे बचा जाय, तभी आत्मोन्नति होगी।

परम वैष्णव नारद

(लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

भारतीय साहित्य-परम्परामें देवर्षि नारद सर्वाधिक चर्चित पौराणिक महापुरुष हैं, जिनका व्यक्तित्व विभिन्न मार्गस्थलियोंका संधिस्थल है, अतः विचित्र, अद्भुत और अद्वितीय हैं। ऋषि तीन प्रकारके होते हैं—ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि। इसमें भी नारद, कणाद-कपिल, शुकदेव, सनकादिक, वाल्मीकि, भृगु, पराशर, वसिष्ठ, अगस्त्य, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र, भरद्वाज, अङ्गिरा, जाबालि आदिको, जिनका उल्लेख पुराणोंमें प्राप्त है, ऊँचे आसनपर प्रतिष्ठित किया गया है। किंतु इन ऋषि-मुनियोंमें नारदने सबसे अधिक सम्मान पाया है और वे सर्वत्र कहीं-न-कहीं दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जब कि अन्य ऋषियोंका जीवन दो-एक गुणों अथवा दो-एक विशिष्ट कार्योंसे सम्पृक्त है, नारदजीकी जीवनपटी विविध प्रकारके रंगोंसे रञ्जित है। वे गायनाचार्य हैं और सर्वदा अपनी वीणाके स्वरोंमें हरि-गुण-गान करते रहते हैं; किंतु विचित्रता यही है कि किसी स्थानपर दो-चार दिन या दो-चार प्रहरके लिये जमकर हरि-कीर्तन नहीं करते, वरन् निरन्तर गतिशील हैं और गाते-गाते एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाते हैं। नारदजी-की गति अव्याहत है और वे कहीं भी पलक मारते पहुँच सकते हैं। वे परम वैष्णव हैं और भक्तोंमें उन्हें स्पृहणीय उच्च आसन मिला है। भक्तिके सम्यक् प्रसार-प्रचारार्थ उन्होंने 'भक्ति-सूत्र' नामक ग्रन्थकी रचना की, जो भक्तिमार्गके प्रौढ़तम दो सिद्धान्त-ग्रन्थों 'नारद-कृत भक्तिसूत्र' और 'शाण्डिल्य-कृत भक्तिसूत्र'में प्रतिष्ठित है। नारदकृत दूसरा ग्रन्थ 'पञ्चरात्र' है। वाल्मीकि-रामायण और श्रीमद्भागवतके प्रेरणास्रोत भी नारद ही हैं। नारद ही वाल्मीकिको रामकथा सुनानेवाले हैं। व्यासमुनि सप्तदश पुराणोंकी रचनाके पश्चात् भी अशान्त, असंतुष्ट तथा तप्त थे। वे सोच न पा रहे थे कि कौन-सा कार्य करूँ, जिससे उनके हृदयको शान्ति प्राप्त हो, तभी नारद आये और उन्होंने कहा—'ऋषिवर! हरिलीलाका वर्णन करो, तभी शान्ति आकर तुम्हारे हृदयमें आसीन होगी।' फलतः व्यासमुनिने भागवतको जन्म दिया। नारद-जीवनकी इसी पृष्ठभूमिने गोस्वामी तुलसीदासजीसे यह लिखवाया—

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥
प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥

कृष्णकाव्य और रामकाव्यके साथ नारद जुड़ गये हैं। फलतः गोस्वामीजीने भी देवर्षिको मानसमें महत्त्व प्रदान किया है। वे रामके परम भक्त हैं और आरम्भसे अन्ततक स्थान-स्थानपर चित्रित हैं। अठारह बार नारदजी मानसमें अत्याधिक रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। अकेले ये ही भक्तराज हैं, जिनको प्रत्येक समय प्रत्येक स्थलपर रामके पास पहुँचनेकी खुली छूट है। कभी वे अकेले जाते हैं, कभी अन्योंके साथ —

बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥

जब भी भगवान् राम कोई लीला करते हैं, तब नारद आकर देख जाते हैं और जाकर पिता ब्रह्माके यहाँ उस लीलाका ब्यौरा देते हैं, जिसे सुनकर ब्रह्मा तथा ब्रह्माके अन्य मानसपुत्र सनकादिक आनन्दमें मग्न होकर नारदको सराहते हैं—

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥
सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहिं॥

अन्य मुनि तथा सनकादिक कहते हैं—'नारदजी! हम भी साथ चला करेंगे।' फलतः राज्यतिलकके पश्चात् नारद सनकादिकको नित्य साथ ले आते हैं और सभी ऋषि रामका दर्शनलाभ करते हैं—

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥

भक्तिका सम्बन्ध हृदयसे है। जो भाव-भीने हृदयसे हरिको पुकारता है, हरि उसको दर्शन देते हैं। हृदयकी प्रवृत्ति है कि जिसके साथ यह सदा वास करता है, उससे अनुराग करने लगता है। भाई-भाई और दो सखाओंके प्रेमका रहस्य सतत सहवासमें ही छिपा है। जिस स्थानपर वर्षों रहते हैं, उससे अनुराग हो जाता है। अतः गोस्वामीजीका मत है कि सदा रामके ही साथ रहना चाहिये। यह साथ कैसे सम्भव है? सदा रामनाम जपनेसे। गोस्वामीजीने सबसे अधिक बल राम-नाम-जपपर दिया है। उनका कथन है कि 'सदा राम-नाम जपो। सदा राम-नाम जपनेसे उससे अनुराग हो जायगा। यह जप मानसिक अधिक होगा, यद्यपि आरम्भमें जिह्वा इसका माध्यम होगी।' मानसमें नारद राम-नामके सबसे बड़े जापक हैं। तभी तो वे रामके प्रिय बन गये हैं—

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥

पम्पा-सरोवरपर वृक्ष-छायामें बैठे रामके पास नारद आते हैं। राम प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहते हैं। धन, मान, स्वर्ग-सुख, मोक्ष आदि तो नारदकी दृष्टिमें आ ही नहीं सकते थे। अन्य भक्तोंने भगवान्से भक्ति माँगी है। शरभङ्गने 'जोग-जग्य-तप-जप' देकर भक्ति-वर पाया—

जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

इन्द्रने माँगा—

दे भक्ति रमानिवास त्रास हरन सरन सुखदायकं।

शम्भुकी याचना थी—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

सनकादिकने रामसे वर माँगा—

देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भव दाप नसावनि॥

किंतु नारद भगवान्से माँगते हैं—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह तें अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम॥

नारदका स्पष्ट कथन है कि 'राम-नामरूपी चन्द्र ही भक्तिरूपी रात्रिको प्रकाशित करनेवाला है। अतः हे राम! आपका नाम मेरे तथा अन्य भक्तोंके उरमें सदा विराजमान रहे।'

गोस्वामीजीने सत्सङ्गपर बहुत बल दिया है। उनका अभिमत है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

यह तथ्य सर्वसिद्ध है कि मनुष्य-जीवनपर वातावरणका प्रभाव कम नहीं पड़ता। उसके जीवन-निर्माणमें वातावरणका प्रमुख हाथ रहता है। अन्योंके अतिरिक्त किसी मनुष्यके संगी-साथी वातावरणका प्रधान अङ्ग कहलाते हैं और उसकी सफलता-असफलतामें इनका गहरा हाथ रहता है। अतः

गोस्वामीजी बार-बार मानसमें सुसङ्ग और कुसङ्गके फलोंको चित्रित करते रहते हैं। राम और लक्ष्मणकी सफलतामें यदि विश्वामित्रका बहुत बड़ा हाथ था तो कैकेयीको गिरानेमें मन्थरा कारण बनी। स्वयं भगवान् रामने साधु-सङ्ग-महिमा गायी है और साधुओंके लक्षण गिनाये हैं। भगवान् रामसे साधु-सङ्ग-महत्ता एवं साधु-लक्षणोंका उपदेश प्राप्त करनेवाले मानसके दो ही पात्र हैं—भरत और नारद। भरतका जीवन साधु-जीवनका सर्वोच्च उदाहरण है। फलतः वे साधु-लक्षण जाननेके लिये सर्वश्रेष्ठ पात्र माने ही जायँगे। दूसरे हैं—मुनि नारद। अरण्यकाण्डमें नारदके प्रश्न करनेपर राम नारदको साधु-लक्षण बताते हैं और कहते हैं—

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

नारदको क्यों भगवान्‌ने साधु-लक्षण-उपदेशका पात्र समझा ? क्योंकि नारद साधु-सङ्गसे ही जीवनकी इतनी ऊँचाई प्राप्त कर पाये थे। गोस्वामीजीका कथन है कि साधु-सङ्ग-महिमाका स्पष्टीकरण वाल्मीकि तथा अगस्त्यकी भाँति नारदने स्वयं किया था—

बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥

नारदने कहाँ अपनी यह कथा कही है ? श्रीमद्भागवत (१।५-६) में नारद ऋषि व्यासको अपना गत जीवन बताते हुए कहते हैं—"मैं दासीपुत्र था। मेरी माँ ऋषियोंकी सेविका थी। वहाँ सदा ज्ञान-चर्चा होती थी। उनके संसर्ग और उनकी जूठन खानेसे मेरी बुद्धि निर्मल हो गयी। कृपा कर उन ब्राह्मणोंने मुझे ज्ञान दिया और भगवत्-रहस्य समझाया। तब मेरी बुद्धि भगवत्-परायण हो गयी। मेरी माँको सर्पने डस लिया और वह मर गयी। अब स्वतन्त्रता-पूर्वक मैं भगवान्‌में लीन हो गया। प्रभुने हृदयमें दर्शन दिया और कहा—'इस जन्मके पश्चात् मैं साक्षात् मिलूँगा।' मैं मृत्युके पश्चात् भगवान्‌में मिल गया और कल्पान्तके बाद मैंने ब्रह्माके बारह मानसपुत्रोंमेंसे अन्यतमके रूपमें जन्म ग्रहण किया। यह सब सत्सङ्गका ही फल था कि मैं ज्ञानमय हरिभक्तिरूपी अपूर्व फल प्राप्त कर सका।"

नारदजी स्वयं तो राम-परायण हैं ही, दूसरोंको भी विरक्त और हरिपरायण बनानेका उद्योग करते हैं। पुराणोंमें इसके अनेक उदाहरण भरे हैं। गोस्वामीजी शिव-विवाह-प्रसङ्गमें, व्यास-स्तुतिके माध्यमसे, सप्तर्षियोंद्वारा नारदकी प्रशंसा कराते हुए तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवनु न देखा आई॥
चित्रकेतु कर घरु उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥

प्रजापति दक्षके पुत्रोंकी कथा भागवत और मत्स्य-पुराणमें प्राप्त होती है। दक्षप्रजापतिने दस सहस्र (मत्स्यपुराणके अनुसार एक सहस्र) पुत्र उत्पन्नकर उन्हें आज्ञा दी कि 'तपस्या करके शक्ति प्राप्त करो और मानवी सृष्टिकी वृद्धि करो।' सभी पुत्र सिन्धु नदी और सिन्धुके संगमपर तपस्यारत हुए। नारदने आकर उन्हें ब्रह्मकी ओर मोड़ दिया। वे फिर घर न गये। पुनः दक्षने एक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें सृष्टि बढ़ानेकी आज्ञा दी। वे भी इसके लिये तपस्या करने गये। नारदने पुनः उन्हें ईश्वर-परायण बना दिया और वे भी घर न लौटे। दक्षने यह सुनकर नारदको शाप दिया कि नारद कहीं स्थिर होकर निवास न कर पायेंगे। चित्रकेतुका इकलौता पुत्र मर गया। वह बड़ा दुखी था। अङ्गिराके साथ जाकर नारदने उसे उपदेश दिया और उसे ज्ञान तथा भक्तिका उपदेश देकर मोहमायासे मुक्त कर दिया। प्रह्लादको भी भगवान्‌की भक्ति और राम-नाम-स्मरणका उपदेश नारदने गर्भमें दिया। फलतः प्रह्लादने पिताका विरोध किया और अपनेको सदा वैष्णव घोषित किया तथा इसके लिये सभी संकट सहे।

गोस्वामीजीने देह, गेह और नेहकी सार्थकता तभी मानी है, जब इनके द्वारा रामकी भक्ति सम्पन्न होती रहे। यदि ये बाधक हों तो इनका त्याग करना ही उचित है। विनयपत्रिकाका एक प्रसिद्ध पद (१७४) है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भए मुद-मंगलकारी॥

पदमें दिये गये भरत और विभीषणके उदाहरण मानसमें प्राप्त हैं ही, जिन्होंने माता और भ्राताको त्याग दिया। मानसमें गोस्वामीजी नारी-निन्दा करते अघाते नहीं। अरण्यकाण्डके अन्तमें वे अपने मनसे भी कहते हैं—

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥

कामका साकार रूप नारी ही है और षड्विकारोंमें यह प्रमुख है। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर वे नारी-निन्दामें प्रवृत्त होते हैं। अरण्यकाण्डका यह दोहा घोषित करता है

कि गोस्वामीजी पुरुषोंके लिये ही प्रधानतया मानसका निर्माण कर रहे हैं। वे उससे कहते हैं—'काम-क्रोध-मद-लोभके पाशमें न फँस। बस, रामको हृदयमें रखकर अपना कर्तव्य करता चल। ध्यान रख, कामका रूप नारी तेरे मार्गमें सबसे अधिक बाधक है। अतः अपने मनको उससे हटा ले, नारी-रूप दीपशिखाका उसे पतंग न बनने दे।' किंतु नारीका मोह छूटना क्या सरल है? विश्वामित्र और पराशर इसकी दुस्त्यजताके उदाहरण हैं। नारी-पाश अत्यन्त प्रबल है। अतः इसकी काट भी प्रबलतासे की गयी है और नारीकी बार-बार निन्दा करके मानव-मनको उधरसे विकर्षित किया गया है। स्त्रीके लिये तो सरल मार्ग बता दिया गया है कि पति-परायणता उसके लिये पर्याप्त है। नारी-निन्दा स्वयं कविने की है और पात्रोंने भी। भगवान् राम भी दो स्थानोंपर नारी-निन्दामें प्रवृत्त होते हैं—एक सीता-वियोगमें अत्यन्त उद्भ्रान्त होकर और दूसरे नारदके सम्मुख। इस नारी-निन्दाके व्याजसे भगवान् राम भी यही उपदेश देते हैं कि 'मेरे सच्चे भक्तको नारी-मोहसे दूर रहना चाहिये।' इसके उदाहरण भी नारदजी हैं।

स्त्रीसे सदा दूर रहनेवाले ऋषि नारदकी दुर्गति भी मानसमें प्राप्त होती है। गोस्वामीजी मुख्य कथाके बाहर इस प्रसङ्गको विस्तारसे ग्रहण करते हैं, जो किसी भी राम-काव्यमें नहीं प्राप्त होता। शिवपुराणमें अवश्य यह कथा है; किंतु वहाँ राजाका नाम अम्बरीष है और राजकुमारीका नाम श्रीमती है। मानसमें राजाका नाम शीलनिधि है और राजकुमारीका नाम विश्वमोहिनी है, जिसको देखकर नारद उसपर आसक्त हो जाते हैं और मनमें संकल्प करते हैं—'मैं ही इससे विवाह करूँगा।' इसके लिये बस, वे हरिसे उनका रूप माँगते हैं। हरि नारदके हितार्थ हरि (बंदर)-रूप दे देते हैं और स्वयं जाकर राजकुमारीसे विवाह कर लेते हैं। आगबबूला होकर नारद भगवान् हरिको उस राजकुमारीके साथ देखकर दो शाप देते हैं—(१) तुम भी नारी-विरहमें तड़पोगे और (२) यह वानररूप तुम्हारी सहायता करेगा। इस प्रसङ्गद्वारा रामावतारका एक कारण पुष्ट किया और दूसरे नारद-जैसे श्रेष्ठ भक्तको नारी-पाशसे मुक्त किया। अरण्यकाण्डमें इसका स्पष्टीकरण भी उपस्थित है। भगवान्को सीता-विरहमें दुखी देखकर नारदको पश्चात्ताप होता है। वे भगवान्से पूछते हैं—'प्रभो! एक बात बताइये, आपने मुझे विवाह करनेसे क्यों रोका था?' राम उत्तर देते हैं—'नारद! जो मेरे भक्त मुझपर ही आश्रित हैं, मैं माताके समान उनकी रक्षा करता हूँ। मेरे दो पुत्र हैं—एक ज्ञानी और दूसरे मेरे आश्रित भक्त। ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र है और भक्त बालक। दोनोंको काम और क्रोध तपाते हैं। मैं अपने आश्रित बालक अर्थात् भक्तकी ओर देखता हूँ, ज्ञानी तो अपने पैरोंपर खड़ा होकर सबसे लोहा लेता है। तुमको मैंने विवाह न करने देकर नारी-पाशसे बचाया। नारद समझ लो—

> काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
> तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥
>
> सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
> जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥
>
> × × ×
>
> धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा॥
>
> × × ×
>
> बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥
> अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
> ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥

नारदमें उपकार-वृत्ति बहुत है। इसी वृत्तिके कारण वे विषयी जीवोंको भगवान्की ओर प्रेरित करते रहते हैं। पौराणिक कथाओंमें लोकहित-कामनासे वे कुछ-न-कुछ करते दिखायी पड़ते हैं। कभी वे स्वयं उपाय बताते हैं, कभी वे विष्णुसे जाकर पूछते हैं। ऊँच-नीच, सुर-असुर, पशु-पक्षी—कोई भी हो, वे उसकी सहायताको प्रस्तुत रहते हैं। घूमते-घूमते जो कोई उनके सम्मुख आया, उसके दुःख दूर करनेका साधन उन्होंने तुरंत बताया। जीवोंके नाथ श्रीरघुनाथकी भी सहायताके लिये नारदजी पहुँचते हैं। जब इन्द्रजित्ने राम-लक्ष्मणको नागपाशसे बाँध दिया, वे गरुडको तुरंत भेजकर नागपाश कटवाते हैं और भगवान्को बन्धनसे छुड़ाते हैं—

> इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥
> खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।
> माया बिगत भए सब हरषे बानर जूथ॥

खगपति गरुडने देवर्षिके निर्देशानुसार यह कार्य तो कर दिया, किंतु उन्हें एक रोगने पकड़ लिया। वे मनमें सोचने लगे—'क्या ये 'भगवान्' हैं, जो नागपाशको भी न काट सके?' इस संदेहने उन्हें बड़ा उद्विग्न कर दिया।

नारदने गरुडकी सहायता की और गरुडको मार्ग बताया— 'गरुड ! ब्रह्माके पास जाओ ।'

पुराणोंके अनुसार लोकहित-कामनासे नारदजीने राक्षस-विनाशमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता पहुँचायी है। भागवत और विष्णुपुराणमें नारद कंसको समझाकर उसे अधिक अन्याय करनेके लिये प्रेरित करते हैं, ताकि भगवान्‌का अवतार हो । रामचरितमानसमें वे राक्षस-विनाशमें प्रत्यक्षरूपसे सहायता नहीं देते। हाँ, कुम्भकर्णको इसकी सूचना देते हैं। कुम्भकर्णको जब जगाया जाता है, तब वह रावणसे कहता है—

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा । अब मोहि आइ जगाएहि काहा ॥
अहह बंधु तैं कीन्ह खोटाई । प्रथमहिं मोहि न सुनाएहि आई ॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा । कहतेउँ तोहि समय निरबहा ॥

यह प्रसङ्ग अध्यात्मरामायण (७।७।५९-६०) में प्राप्त है, जहाँ रावणको कुम्भकर्ण बताता है कि "एक बार मैं वनमें बैठा था। नारदमुनिने उस वन-मार्गसे जाते हुए बताया था कि 'तुम दोनोंके अत्याचारसे पृथ्वी पीड़ित है। भगवान् विष्णु रामका अवतार लेकर तुम दोनोंको मारने आये हैं।'" पुनः जब भगवान् राम कुम्भकर्णका वध कर डालते हैं, तब नारद आकाशमें उपस्थित होकर भगवान्‌का गुणगान करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो ! रावणको भी शीघ्र मारकर पृथ्वीका भार हरिये'—

गगनोपरि हरि गुन गन गाए । रुचिर बीररस प्रभु मन भाए ॥

देवर्षि नारदका ज्योतिषी-रूप बार-बार मानसमें प्राप्त होता है। नारदजी हस्तरेखा एवं मुख-मण्डल देखकर भविष्य-वाणी करते हैं और वह सदा सच उतरती है । विश्वमोहिनीका मुख देख वे निष्कर्ष निकालते हैं—

जो एहि बरइ अमर सोइ होई । समरभूमि तेहि जीत न कोई ॥
सेवहिं सकल चराचर ताही । बरइ सीलनिधि कन्या जाही ॥

और विश्वमोहिनीको ऐसा ही वर विष्णुरूपमें प्राप्त हुआ, यद्यपि नारदने उससे विवाह करनेका पूरा उद्योग किया। राजा हिमवान्‌की पुत्री गिरिजाकी हस्तरेखा देखकर नारदने कहा—

सब लच्छन संपन्न कुमारी । होइहि संतत पियहि पिआरी ॥
सदा अचल एहि कर अहिवाता । एहि तें जसु पैहहिं पितु माता ॥
होइहि पूज्य सकल जग माहीं । एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं ॥

अच्छा, हे राजा हिमवान् ! इसको कैसा पति प्राप्त होगा, यह भी बताता हूँ ।

अगुन अमान मातु पितु हीना । उदासीन सब संसय छीना ॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष ।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख ॥

जनक-दुलारी जानकीके लिये भी नारदने भविष्यवाणी की थी—'हे सीता ! तुझे सुन्दर साँवला वर प्राप्त होगा, जिसका नाम राम होगा।' फलतः जब पुष्प-वाटिकामें एक सखीने आकर सीतासे सुन्दर साँवले दशरथकुमारका वर्णन किया, तब सीताको नारदके वचनोंका स्मरण हो आया और उत्सुकतापूर्वक सीताजी उस सुन्दर राजकुमार रामको देखनेके लिये चलीं—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत ।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ॥

नारदकी भविष्यवाणी कभी भी असत्य न होगी, इसका अटूट विश्वास मानसमें स्थान-स्थानपर अङ्कित है। स्वयं जगदम्बा पार्वती जानकीको आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

नारद बचन सदा सुचि साचा । सो बरु मिलिहि जाहिं मनु राचा ॥
मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो ।
करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो ॥

जब पार्वतीके लिये नारदकी भविष्यवाणी हुई, तब पार्वतीके माता-पिता तथा पार्वतीको नारदजीके वचनोंपर पूर्ण विश्वास था कि ये अवश्य सत्य सिद्ध होंगे—

झूठि न होइ देवरिषि बानी । सोचहिं दंपति सखीं सयानी ॥

× × ×

नारद कहा सत्य सोइ जाना ।

संत, महीसुर और भक्तमें गोस्वामीजीने कोई अन्तर नहीं माना है। नारदजी परम संत हैं, जिनके जीवनमें लोकहित व्याप्त है; वे परम वैष्णव हैं, जिनका प्रत्येक श्वास भगवान्‌को ध्याता है; वे परम निष्ठावान् गायक हैं, जिनकी प्रत्येक तान भगवान्‌के गुणगानमें व्यय होती है; वे परम गतिमान् हैं, जिनका प्रत्येक कदम भगवान्‌के पास पहुँचता है; वे परम ज्ञानी हैं, जिनका ईश्वरीय ज्ञान, मानवज्ञान और ज्योतिष-ज्ञान मानवोंको ईश्वरकी ओर ले जाता है और दुष्टोंका नाश कराता है ।

श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अन्तिम उपदेश

भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर नाम, वपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत विघ्न अनेक॥

संतोंका जीवन, व्यवहार, वाणी—सब कुछ अपने प्रभुकी सेवामें नियोजित रहता है। वास्तवमें संतके 'अहं' की पृथक् कोई सत्ता ही नहीं रहती, उसका 'अहं' समष्टिके 'अहं'में विलीन हो जाता है। अतएव संतका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता; भगवान् ही संतमें अवस्थित रहकर उसके माध्यमसे सब कार्य करते हैं। परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) इसी कोटिके संत थे, जो भगवान्में ही जीये, भगवान्में ही रहे और अन्तमें भगवान्में ही विलीन हो गये। 'कल्याण'के माध्यमसे उन्होंने ४४ वर्षों-तक अपने इष्टदेवरूप चराचर विश्वकी जो सेवाएँ कीं, वे अप्रतिम हैं। इस लंबी अवधिमें लाखों-लाखों देशवासी उनके उपदेशामृतका पानकर भगवान्‌की ओर आकृष्ट हुए हैं और उन्होंने जीवनके परम लक्ष्य—भगवान् या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिके महत्त्वको समझा है और इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये किस प्रकार सुगमतासे बढ़ा जा सकता है, इसकी शिक्षा ग्रहण की है। हजारों-हजारों निराश व्यक्तियोंने आशा, उत्साह, स्फूर्ति, नवीन चेतना प्राप्त की है और उत्साहहीनता, निराशा और विनाशके गर्तमें गिरकर वे अपना सर्वस्व नष्ट करनेकी कुचेष्टासे विरत हुए हैं। आपसके मनोमालिन्यको धोकर परस्पर प्रेमकी प्रतिष्ठा करनेकी प्रेरणा कितने परिवारोंको, कितने स्वजनोंको, कितने मित्रोंको प्राप्त हुई है—इसका हिसाब लगाना असम्भव है। मानव-स्वभावकी दुर्बलताओंसे घिरे रहकर सन्मार्गसे फिसलते हुए कितने-कितने साधक, गृहस्थ, विरक्त, नवयुवक भगवान्‌की सौहार्दमयी पतितपावनताका परिचय प्राप्तकर, पापपङ्कसे निकलकर सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर हुए और उन्नतिके शिखरपर पहुँचे हैं! जीवनकी ऐसी कौन-सी गुत्थी, समस्या, पहेली, उलझन है, जिसका समाधान श्रीपोद्दारजीकी लेखनी या वाणीसे निकले शब्दोंसे प्राप्त न हुआ हो। यही हेतु है कि २२ मार्च १९७१ को प्रातःकाल जब ये महामानव अपनी इहलौकिक लीलाको संवरणकर भगवान्‌की नित्य-लीलामें लीन हो गये, तब देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक विषादकी एक तीव्र लहर दौड़ गयी और अच्छे-अच्छे विरक्त महात्माओंतक, जिनकी दृष्टिमें जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं है, श्रीपोद्दारजीके तिरोधानसे मर्माहत हो उठे और उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह बह चला। देशके एक सिरेसे दूसरे सिरेतकसे अगणित लोगोंके करुण पत्र, तार, टेलीफोन आये हैं और अबतक आ रहे हैं, जिनको देखकर पता चलता है कि श्रीपोद्दारजीका 'परिवार' कितना विस्तीर्ण, कितना विशाल था। सहस्रों व्यक्तियोंको अपने सगे-स्वजनों, गुरुजनों, प्रेमियोंकी विदाईसे जितनी पीड़ा नहीं हुई, उतनी पीड़ा उन्हें श्रीपोद्दारजीकी विदाईसे हुई है। अतएव हमारे पास ऐसे व्यक्तियोंके आग्रहभरे पत्र आ रहे हैं कि उन महामानवके अन्तिम समयके उपदेशोंको 'कल्याण'में प्रकाशित किया जाय, जिन्हें पढ़-सुनकर लोग सत्प्रेरणा एवं सच्ची शिक्षा प्राप्त कर सकें। प्रेमी एवं स्वजनोंके इस आग्रहके पालनस्वरूप संक्षेपमें कुछ बातें नीचे दी जा रही हैं।

जबतक बोलनेकी शक्ति रही, श्रीभाईजी अपनी वाणीसे कुछ ऐसी बातें बराबर कहते रहे, जिनसे लोक-परलोक दोनोंका सुधार हो, जो प्रेय एवं श्रेय दोनोंकी प्राप्तिमें सहायक हों। पर दुःख है कि उनकी पूरी वाणी संग्रह नहीं की जा सकी। एक स्वजनने कुछ बातें संग्रह की हैं, वे नीचे दी जा रही हैं। ये बातें समय-समयपर संग्रह की हैं, अतएव इनमें कोई क्रम नहीं है। सम्मान्य पाठक-वृन्द इसके लिये हमें क्षमा करेंगे।

जीवन-मरण विधिके हाथ है। शरीरके निर्माणके साथ ही उसके विनाशका समय भी निश्चित हो जाता है। बीमारी तो एक बहानामात्र है, वह शरीरके नाशमें हेतु नहीं होती। शरीर तो श्वास पूरे होनेपर ही जाता है। श्वास पूरे होनेके पश्चात् लाख प्रयत्न करनेपर भी एक श्वास भी नहीं आ सकता। इसी प्रकार जन्मके साथ ही यह भी निर्धारित हो जाता है कि इस जीवनमें कौन-कौन-से सुख-दुःखोंका भोग करना है। जीवनभर परम सात्त्विक, ईमानदार, सत्यपरायण रहनेवाले व्यक्ति भीषण कष्ट भोगते देखे गये हैं तथा दिन-रात पापमें रत, दूसरोंका अहित करनेवाले तथा असत्यपरायण व्यक्ति सदा स्वस्थ रहते हैं। फिर संत-जगत् कष्ट-भोग क्यों और कैसे करता है, इसका विश्लेषण लौकिक मन-बुद्धिद्वारा होना सम्भव नहीं। शरीरकी दृष्टिसे लगभग दो वर्षोंतक श्रीभाईजीने भीषण व्याधिका उपभोग किया। पर भीषण कष्टकी इस लंबी अवधिमें भी वे उससे सर्वथा अप्रभावित रहे।

न उन्हें कोई भय था न चिन्ता, न दुःख न विषाद। वे सर्वथा शान्त, सुस्थिर, अविचल, अम्लान रहे—अपनी मस्तीमें मस्त रहे। ऐसा लगता था, जैसे वे इस भीषण व्याधिके द्रष्टामात्र हैं। इस बीमारीके सर्वप्रथम दर्शन २२ अप्रैल १९६९ को ऋषिकेशमें हुए थे। पीछे इसके दौरे बराबर आते रहे। इस दौरेके समय उनके पेटमें दाहिनी ओर पित्ताशय (Gall Bladder) एवं वृक्क (Kidney) के बीच एक गोला-सा बन जाता था तथा उसमें और पेटके ऊपरी भागमें भीषण पीड़ा होती थी। दर्दका शमन होनेके साथ-साथ वह गोला भी अदृश्य हो जाता था। कई प्रकारसे एक्सरे (x-ray), लिया गया; पाखाना, पेशाब, खून आदिकी कई प्रकारसे जाँच की गयी। पर डाक्टर-वैद्य किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँच पाये कि इस पीड़ाका वास्तविक कारण क्या है। पित्ताशय एवं मूत्राशयमें पथरी है, यह तो सभी डाक्टरोंकी निश्चित राय थी; पर पेटमें जिस स्थानपर गोला बनता था, वह इन दोनोंके कारण हो—ऐसा वे निश्चित-रूपसे निदान नहीं कर सके। पेटकी जितनी भीषण व्याधियाँ हो सकती हैं, सभीकी आशङ्का किसी-न-किसी रूपमें बतलायी जाती थी—जैसे आँतका मुड़ जाना, पेटमें फोड़ा बनना, आँतके किसी मार्गका सड़ना, वायु-गुल्म, वृक्कका अपने स्थानसे हट जाना आदि। कैन्सर होनेका भी संदेह हो रहा था। ४ नवम्बर १९७० को जो भीषण दौरा हुआ था, उसके बादसे गोला पूर्णतः शमन नहीं हुआ। यद्यपि उसकी आकृति दौरेके शमन हो जानेपर कुछ कम हुई थी। फिर भी उसका स्पष्ट अनुभव होता था तथा उसे दबानेसे पीड़ा होती थी। इससे डाक्टरोंका यह अनुमान और भी पुष्ट हो गया कि पेटमें कैन्सर पनप रहा है। १६ फरवरी १९७१ के पश्चात् पीलियाका अनुभव होने लगा—पेशाब पीला हो गया, आँखें पीली हो गयीं तथा शरीर भी पीला हो गया। जो गोला बना हुआ था, वह बहुत कड़ा हो गया और समूचा पेट अस्वाभाविक स्थितिमें रहने लगा। अन्तिम दिनोंमें बीच-बीचमें श्वास-कष्टका अनुभव होने लगा, जिससे यह स्पष्ट अनुमान होता था कि पेटमें कैन्सर है। पर पेटको खोले बिना यह किसीके लिये निश्चितरूपसे कहना सम्भव नहीं था कि रोग क्या है।

× × ×

जनवरी मासके अन्तिम सप्ताहकी बात है—

रोग बढ़ता जा रहा था। स्थानीय डाक्टर महोदय, जिन्हें श्रीभाईजीके परिवारका एक अङ्ग ही समझना चाहिये, बड़े चिन्तित हो रहे थे। बीच-बीचमें उनकी आँखें सजल हो जाती थीं। उनकी इस विवशताकी स्थितिको देखकर श्रीभाईजीने उनसे कहा—'आपलोग मुझे प्रेमसे देखनेके लिये आते हैं, तो मैं भी प्रेमसे दिखा देता हूँ, दवा आदि लेता हूँ। जब आपलोगोंको जाँचमें कोई गम्भीर बात ज्ञात होती है, तब आपलोग बड़े गम्भीर हो जाते हैं, आपसमें धीरे-धीरे परामर्श करने लग जाते हैं; पर मुझपर रोगकी गम्भीरताके ज्ञानका कुछ भी प्रभाव नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो होना है, वह होगा ही; पहलेसे ही उसके लिये रोने क्यों बैठें? मृत्यु जब आनी होती है, तभी आती है; मनुष्य चिन्ता और भयसे बार-बार क्यों मृत्युको प्राप्त हो? शरीरकी अस्वस्थताको दूर करनेके लिये आपलोग पूरे प्रयत्नशील हैं ही, मैं भी दवा ले रहा हूँ। बीमारी जब ठीक होनेको होगी, तभी होगी; यदि बढ़नी होगी तो बढ़ेगी ही। आपलोग अपनी समझसे अच्छे-से-अच्छे उपचार कर रहे हैं। इसपर भी बीमारी बढ़ती जा रही है। भीषण कष्ट है, पर अंदर-ही-अंदर मुझे बड़ा आनन्द है। पीड़ाके रूपमें भगवान्‌के सम्पर्ककी अनुभूति हो रही है। कष्ट-पीड़ाके रूपमें भगवान् ही याद आते हैं—कष्ट-पीड़ा भी तो भगवान्‌के ही रूप हैं।'

× × ×

चन्दनके समीप चाहे जिस भावनासे पहुँचा जाय, चन्दन पास आनेवालेको सौरभ ही देता है। संतोंके जीवनमें इसके प्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते हैं। श्रीभाईजी भी अपने उपचारके लिये पधारे हुए डाक्टर महोदयोंका 'उपचार' करना चाहते थे। उन्हें डाक्टर महोदयोंके 'भवरोग'की चिन्ता थी। वे जानते थे कि डाक्टर महोदयोंके पास समयका अत्यन्त अभाव रहता है। अतएव एकान्तमें बैठकर भजन-पूजन करना उनके वशका नहीं। इन्हें ऐसा ही साधन बतलाना चाहिये, जिससे ये लोग अपना चिकित्साका कार्य करते हुए ही जीवनके चरमोद्देश्य—भगवत्प्राप्तिको चरितार्थ करनेमें सफल हो सकें। जिस दिन अस्पतालके विश्रामका दिन होता था, उस दिन श्रीभाईजी डाक्टर महोदयोंको प्रेरित करते हुए कहते—"आपलोगोंके पास जो रोगी आते हैं, उनकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। भगवान्‌ने गीतामें आदेश दिया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(१८ । ४६)

'अर्थात् जिसके जिम्मे जो काम हो, वह अपने उसी कामके द्वारा भगवान्‌की सेवा करे।' आपलोगोंके जिम्मे रोगियोंकी सेवाका काम है। वास्तवमें रोगीके रूपमें भगवान् ही आपसे सेवा चाहते हैं। रोगीको देखते, उससे बात करते, उसको दवा देते समय यह भाव आपलोगोंको मनमें रखना चाहिये कि भगवान् ही हमसे इस रूपमें सेवा ले रहे हैं। जहाँ रोगीके रूपमें भगवान्‌की अनुभूति हुई, वहाँ उसका उपचार सुन्दर-से-सुन्दर रूपमें होगा और वह क्रिया भजन बन जायगी तथा वह भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली हो जायगी।" डाक्टर महोदय इस प्रकार व्यावहारिक भजनका तरीका प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते थे।

दूसरे दिन श्रीभाईजी उसी प्रसङ्गको आगे बढ़ाते हुए फिर कहने लगे—"भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।

'अपने कर्तव्यका पालन करो—नहीं-नहीं, 'समाचर' अर्थात् भली प्रकार ठीक-ठिकानेसे उसका आचरण करो। 'कैसे करो?' "मुक्तसङ्गः"—आसक्ति-ममतारहित होकर—लगाव (attachment) न रखते हुए करो।" 'क्यों करो?' 'तदर्थम्'—अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करो। आप समझें रोगीके रूपमें स्वयं भगवान् हैं, इनकी सेवा आसक्ति-ममतासे रहित होकर अपनी पूरी समझ-बूझके साथ करनी चाहिये।" इस प्रकार भीषण स्थितिमें भी वे अपने रोगकी विस्मृति कर डाक्टर महानुभावोंके 'भवरोग'की निवृत्तिकी चिन्ता करते और उसकी निवृत्तिका सरल मार्ग बताते। डाक्टर महानुभाव आश्चर्यचकित थे कि ये कैसे व्यक्ति हैं, जो सर्वथा लाचारी एवं भीषण चिन्ताकी स्थितिसे भी अप्रभावित रहकर अपने आदर्श स्वभाव एवं 'कर्तव्य'का पालन करते हैं।

फरवरीके प्रथम सप्ताहमें—

डाक्टर महानुभावोंको अपने विषयमें चिन्तित देखकर श्रीभाईजीने उनसे कहा—'आपलोग जब देखने आते हैं, उस समय मुझे रोग याद आ जाता है; अन्यथा जब दिनमें मैं कमरा बंद किये अकेला रहता हूँ, तब रोगकी स्मृति प्रायः नहीं रहती। मैं अपने काममें, स्मरणमें लगा रहता हूँ।'

× × × ×

श्रीभाईजी पुनः बोले—"शरीर ही बीमार होता है, आत्मा बीमार थोड़े ही होता है। हमने शरीरके साथ अपना तादात्म्य कर रक्खा है, इससे शरीरकी अस्वस्थताके साथ हम अस्वस्थ हो जाते हैं। दूसरे, हमारे विचारोंका शरीर एवं स्वास्थ्यपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मैंने फ्रांसके एक प्रसिद्ध डाक्टरकी लिखी पुस्तक अंग्रेजीमें पढ़ी है। उन्होंने यह समझानेके लिये कि विचारोंका शरीरकी स्वस्थता-अस्वस्थता-पर कितना प्रभाव पड़ता है लिखा है—'मेरा एक रोगी ठीक हो गया था। मैं उसे देखने उसके कमरेमें गया तो मैंने पाया कि वह प्रायः ठीक हो गया है। मैंने उसे देखकर कह दिया कि, आप प्रायः ठीक हो गये हैं। आपकी रिपोर्ट तैयार है, मँगवा लीजिये।' उधर मेरा एक दूसरा रोगी उसी दिन बहुत अधिक अस्वस्थ हो रहा था। मैं पहले रोगीको देखनेके बाद उस रोगीको देखने उसके कक्षमें पहुँचा। रक्त, पेशाब आदि लेकर जब मैं अस्पताल पहुँचा और मैंने उन चीजोंकी जाँच करवायी तो मुझे लगा—यह रोगी अब जल्दी ही विदा होनेवाला है। मैंने तुरंत उसकी रिपोर्ट तैयार की और उसमें लिखा कि अब आप जल्दी ही विदा होनेवाले हैं। जो काम आपको करना हो, कर लीजिये, वसीयतनामा (Will) लिखना हो तो वह लिख लीजिये। मैंने रिपोर्ट अपने सहायकको दे दी। उससे रिपोर्ट भेजनेमें भूल हो गयी। उसने मरणासन्न रोगीकी रिपोर्ट ठीक होनेवाले रोगीके पास भिजवा दी। ठीक हुए रोगीने रिपोर्ट पढ़ी तो वह घबरा गया। उसमें स्पष्ट लिखा था—'अब तुम्हारे बचनेकी कुछ भी आशा नहीं है।' बेचारा रोगी यह रिपोर्ट पढ़ते ही हकबका गया और वह सचमुच विदा होनेकी स्थितिमें आने लगा। घरवाले अचानक उसकी ऐसी स्थिति देखकर घबरा गये। दौड़कर वे अस्पतालसे डाक्टर साहबको लिवा ले गये और उन्होंने बताया कि 'जबसे रोगीने आपकी भेजी रिपोर्ट देखी है, तभीसे उसकी हालत इस प्रकार गम्भीर हो गयी है।' डाक्टर साहबने अपनी भेजी रिपोर्ट माँगी और उसे देखते ही वे समझ गये कि किस प्रकार कम्पाउंडरकी भूलसे दूसरे मरणासन्न रोगीकी रिपोर्ट इनके पास पहुँच गयी है। डाक्टर साहबने रोगीको तथा उसके घरवालोंको समझाया कि 'यह रिपोर्ट भूलसे यहाँ आ गयी है। आपकी रिपोर्ट अस्पतालमें रखी हुई है। आप बिल्कुल ठीक हैं, आप घर लौट सकते हैं।' इतना ही नहीं, उन्होंने झटपट आदमीको भेजकर उनकी रिपोर्ट मँगवायी और उन्हें दिखायी। अपनी सही रिपोर्ट देखकर वह व्यक्ति प्रफुल्ल हो उठा और मृत्युके

भयके कारण उसके शरीरमें जो-जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे सब ठीक हो गयीं। विचारोंका इतना प्रभाव पड़ा।''

इसी प्रकार रतनगढ़ (राजस्थान)की एक घटना श्रीभाईजीने सुनायी—''एक सामान्य ब्राह्मण-परिवारमें स्त्रीने श्रावणी पूर्णिमाके दिन श्रवणकुमारकी आकृति द्वारपर अङ्कित करनेके लिये एक लोटेमें गेरू घोलकर रक्खा। पूर्णिमाके दिन प्रातःकाल सूर्योदयके पश्चात् जल्दी ही भद्रा लगनेवाली थी। अतएव उसने रात्रिमें ही गेरूको पीसकर पानीमें घोलकर लोटेमें रख दिया था, जिससे सबेरे उठते ही वह भद्रासे पहले श्रवणकी प्रतिकृति अङ्कित कर ले। चारपाईके नीचे लोटा रखकर वह सो गयी। पासकी चारपाईपर उसके पति सोये थे। प्रातः सूर्योदयसे पूर्व उन्हें शौच जानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। वे उठे और उन्होंने चारपाईके नीचे रखा हुआ लोटा उठा लिया और शौचके लिये पासके जंगलमें चले गये। मलत्याग करनेपर जब उन्होंने अपवित्र अङ्गको धोया तब देखा—सारी जमीन लाल हो गयी है, उनको लगा—पाखानेके रास्तेसे इतना खून गिरा है। 'इतना खून गिरा है'—यह बात मनमें आते ही वे घबरा उठे और बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। कुछ देर बाद किसी पड़ोसीने उन्हें वहाँ जंगलमें अचेत अवस्थामें पड़े देखा और वह जैसे-तैसे उन्हें घर लाया। उनकी हालत गम्भीर होने लगी। इधर स्त्रीने देखा कि 'आज त्योहारका दिन है। वे बीमार हो रहे हैं। त्योहारकी पूजा नहीं हो पायेगी तो और अपशकुन होगा। भद्रा लगनेवाली है, उचित यही है कि जल्दीसे श्रवणकी आकृति अङ्कित कर दी जाय।' इसके लिये वह गेरूका लोटा ढूँढ़ने लगी, पर लोटा उसे वहाँ नहीं मिला। वह बड़ी दुखी हो गयी और घबरायी हुई कहने लगी—'अरे! चारपाईके नीचेसे लोटा किसने लिया?' ब्राह्मणको कुछ होश हो चला था, उसने पत्नीकी बात सुनी। उसने हिम्मत करके जैसे-तैसे उत्तर दिया—'चारपाईके नीचे रखा लोटा तो मैं शौचके लिये ले गया था।' स्त्रीने कहा—'रात्रिमें उसमें गेरू घोलकर रखी गयी थी, जिससे भद्रा लगनेके पू[र्व] श्रवणकी आकृति बना दी जाय।' गेरूकी बात सुनते ही ब्राह्मणमें चेतनता आ गयी, वह हठात् उठ बैठा और पूछने लगा—'क्या सचमुच उसमें घोली हुई गेरू थी?' ब्राह्मणीने उत्तर दिया—'हाँ! उसमें गेरू ही थी।' लोटेमें गेरू ही थी—इतना निश्चय होते ही ब्राह्मणकी कायरता दूर हो गयी, वह उठ बैठा और कहने लगा—'अरे, वह सब गेरूका रंग था, मुझे कुछ भी नहीं हुआ है; मेरे शरीरसे खून नहीं गिरा है।' और वह ब्राह्मण ठीक हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारोंका, मनके भावोंका शरीरपर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।''

भाईजीने आगे बताया—'क्रोधके आवेशसे रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदयकी धड़कन बढ़ जाती है। जो व्यक्ति हृदयकी तकलीफसे बचना चाहता हो, वह क्रोध करना छोड़ दे।'

'इन तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए डाक्टरको चाहिये कि जब वह रोगीको देखे तो मुखकी मुद्राको कभी गम्भीर न बनाये। हँसमुख रहे। इससे रोगीका बहुत कुछ रोग तो बिना दवा ही ठीक हो जाता है।'

डाक्टर महोदय श्रीभाईजीके इस गम्भीर विवेचनसे बड़े प्रभावित हुए और अपने लिये एक सुन्दर उपदेश प्राप्त करके प्रसन्न हो गये।

× × ×

१७ फरवरीकी बात है—

डाक्टर महोदयोंके प्यार एवं स्नेहसे गद्गद हुए श्रीभाईजीने कहा—'आपलोगोंका प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, इसका आपलोग कुछ विचार न करें। आप सद्भाव एवं प्यार दे रहे हैं—हमें उससे बड़ा बल मिलता है। सद्भाव एवं प्यारभरे हृदयका बड़ा प्रभाव होता है। यह बात केवल कहनेकी नहीं है, सत्य है।'

× × ×

मुँहद्वारा पथ्य प्रायः नहीं जा पा रहा था। अतएव पोषणके लिये नसद्वारा ग्लूकोज सलाइन चढ़ाया जाता था। २५ फरवरीको ग्लूकोज सलाइन चढ़ने (transfusion)के समय श्रीभाईजीने कहा—''प्रार्थनाका बड़ा चमत्कारिक प्रभाव होता है। हमने अपने जीवनमें इसका बहुत बार अनुभव किया है। प्रार्थनासे भीषण से-भीषण रोग ठीक हो सकते हैं, इसकी एक घटना स्मरण हो आयी है। कलकत्तेमें श्रीरूड़मलजी गोयन्दका एक प्रसिद्ध व्यवसायी हुए हैं। एक बार उनको प्लेग हुआ।

१०४-५ डिग्री बुखार और दोनों जाँघोंमें बड़ी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। उस समय कलकत्तेमें सर कैलाशचन्द्र बोस बड़े प्रसिद्ध डाक्टर थे। उन्हें बुलाया गया। उन्होंने देखकर कहा—'जीनेकी आशा नहीं है। रात निकलना कठिन है। सावधान रहना चाहिये।' वे यह कहकर चले गये। श्रीरूड़मलजी संस्कृतके पण्डित थे। भागवत पढ़ा करते थे। भागवतके माहात्म्यमें एक जगह नारदजीने श्रीसनकादिसे उनकी प्रशंसामें यह कहा कि 'आप सदा बालकरूपमें इसलिये बने रहते हैं कि आप 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप नित्य करते हैं।' श्रीरूड़मलजीको वह प्रसङ्ग स्मरण हो आया। उन्होंने अपने सेवक गोविन्दको बुलाया और कहा—'गङ्गाजल लाओ, शरीर पोंछेंगे।' गङ्गाजल आ गया। उन्होंने अँगोछेको गङ्गाजलमें भिगोकर सारा शरीर पोंछवाया। कमरा बंद करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने रख ली और श्रीकृष्णमें मन लगाकर 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करने लगे। १-२ घंटेतक तो वे जप करते रहे, पीछे उन्हें स्मरण नहीं रहा कि क्या हुआ। लगभग ४ बजे जब चेतना हुई, तब उन्हें लगा—शरीर हल्का है, बुखार नहीं है। उन्होंने टटोलकर देखा—दोनों गिल्टियाँ भी गायब हैं। तब उन्होंने उठकर एवं चलकर देखा—बिल्कुल स्वाभाविकता अनुभव हुई। तब उन्होंने कमरेका फाटक खोला और नौकरको आवाज दी। नौकर आया और सेठजी अपने दैनिक कृत्यमें लग गये। अब वे बिल्कुल स्वस्थ थे।

"दूसरे दिन प्रातःकाल सर कैलास श्रीरूड़मलजीके बड़ोममें एक अन्य रोगीको देखने आये। रोगीको देखनेपर डाक्टर साहबने सेठजीके परिवारके एक सज्जनसे पूछा—'आपलोग रात्रिमें कितने बजे श्मशानघाटसे लौटे?' उन्होंने पूछा—'किसकी अन्त्येष्टिकी बात कह रहे हैं?' डाक्टर साहब बोले—'श्रीरूड़मलजीकी हालत रातमें बहुत अधिक खराब थी, रात्रिमें उनका शरीर शान्त हो गया होगा और अन्त्येष्टि भी हो गयी होगी। आपको पता नहीं चला क्या?' सेठजीने कहा—'हमें तो कुछ भी पता नहीं है।' तब डाक्टर साहब पता लगाने श्रीरूड़मलजीके घरपर आये। आते ही उन्होंने देखा कि श्रीरूड़मलजी चाँदीकी चौकीपर चाँदीके थालमें पीताम्बर पहने प्रसाद पा रहे हैं। उन्हें इस प्रकार खाते देख डाक्टर साहबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्हें लगा—इन्होंने रात जैसे-तैसे निकाल दी है और अब ये संनिपातकी अवस्थामें खाने बैठ गये हैं। डाक्टर साहबने पूछा—'सेठजी! किसके कहनेसे खा रहे हैं?' बोले—'जिसकी दवासे ठीक हुए हैं?' इतना सुननेपर भी डाक्टर साहबको लगा—ये संनिपातमें ही बोल रहे हैं। डाक्टर साहब घरवालोंको सावधान करके चले गये कि 'आपलोग ख्याल रक्खें, ये संनिपातमें खा रहे हैं।' पर श्रीरूड़मलजी तो पूर्ण स्वस्थ हो गये थे। उन्होंने छककर प्रसाद पाया और पूर्ण स्वस्थ रहे।

"पीछे श्रीरूड़मलजीने स्वयं पूरी बात सुनायी कि 'जब डाक्टर साहबने कह दिया कि रात्रि निकलनी कठिन है, तब मरनेका सोच तो रहा नहीं। भागवत-माहात्म्यके अन्तर्गत श्रीनारद-सनकादिका प्रसङ्ग स्मरण हो आया और हमने वैसे ही किया।'

"—इस प्रकार हमारे सामने यह घटना हुई है। ऐसे अनेकों प्रसङ्ग हमने देखे-सुने तथा अनुभव किये हैं कि 'भगवान्पर विश्वास हो और सच्चे हृदयसे भगवान्से प्रार्थना की जाय तो भगवान्के यहाँ सब कुछ सम्भव है।' पर मेरे यह सब सुनानेका यह अर्थ नहीं कि आपलोग मेरे लिये प्रार्थना करें। मेरे मनमें न जीनेकी इच्छा होती है न मरनेकी। जैसा भगवान्ने रच रक्खा है, वही होना चाहिये। हम शरीर तो हैं नहीं, हम हैं आत्मा। शरीरके जानेसे आत्माका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पीड़ा शरीरमें होती है। कभी अनुभव होती है, कभी नहीं भी होती। आपलोग निश्चिन्त हो जायँ और निश्चय कर लें तो कलसे दवा बंद कर दें। फिर जैसा होना होगा, हो जायगा। उसके लिये भगवान्के विचारको बदलनेकी हमलोग चेष्टा ही क्यों करें? भगवान्से प्रार्थना हो तो उनके विधानके अनुकूल हो। यदि कहीं भगवान्के विधानके विरुद्ध हमारी इच्छा हो तो उसे वे पूरी न करें—यह प्रार्थना करनी चाहिये।"

(शेष अगले अङ्कमें)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

(क)

संध्या-वन्दन अखण्ड

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहीं सत्सङ्ग-प्रवचन करते थे तो संध्योपासनका समय अवश्य बचा लेते थे। एक दिन उन्होंने बताया कि 'जबसे मैंने यज्ञोपवीत ग्रहण किया है, तबसे अबतक (लगभग पचास वर्षमें) कभी संध्योपासनमें अन्तर नहीं पड़ा। यथाशक्ति कालातिक्रमण भी नहीं किया, कर्मातिक्रमणकी तो बात ही क्या है। जल न मिलनेपर बालूसे अर्घ्य दिया। ट्रेनमें होनेपर समयपर मानसिक करके बादमें क्रियारूपसे भी कर लिया। संध्या-वन्दन एक नित्यकर्म है। इसके न करनेपर प्रत्यवाय लगता है। द्विजातिका यह अवश्य-कर्तव्य धर्म है। सूतक-पातकमें भी निर्जल और बिना मालाके संध्या होती है।'

अपने धर्मका यह अपूर्व निर्वाह उनकी दृढ़ निष्ठाका ही सूचक है।

(ख)

दुःख मिटानेकी युक्ति

जिन दिनों 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीका लिखी जा रही थी, श्रीभाईजी वहाँ रह रहे थे। मैं भी था। श्रीमोहनलालजीका एक नन्हा-सा बच्चा शरीर छोड़ गया। मोहनलालजी सेठजीके छोटे भाई तो थे ही, दत्तक पुत्र भी थे। बच्चेको लेकर हमलोग श्मशान गये। लौटनेपर देखा कि सेठजी अत्यन्त व्याकुल हैं। सब लोग उनकी सेवा-शुश्रूषामें लग गये। समझाने लगे—'आप इतने दुखी हो जायँगे तो लोग क्या कहेंगे? आप इतने विचारवान्, भगवद्भक्त, सत्पुरुष हैं। लोग कहेंगे कि जब इनका दुःख नहीं मिटा, तब भगवान्‌के मार्गपर चलनेसे हमारा दुख क्या मिटेगा।' सेठजीने कहा—'यदि घर-बाहरका कोई भी प्राणी मेरे सामने दुखी होकर आयेगा तो मैं फिर दुखी हो जाऊँगा। इसलिये तुम-लोग यह प्रतिज्ञा करो कि कोई दुखी नहीं होगा तो मैं व्याकुल नहीं रहूँगा।' ऐसा ही किया गया और सब ठीक-ठाक हो गया।

मैंने दूसरे दिन एकान्तमें सेठजीसे पूछा—'क्या सचमुच आपको इतना दुःख हुआ?' सेठजीने कहा—'मैंने सोच-विचारकर दुखी होनेका अभिनय किया था। यदि मैं व्याकुल न होता तो घरके सब लोग रोते-पीटते और मैं उन्हें समझाते-समझाते थक जाता। जब मैं दुखी हो गया तो सब लोग समझदार हो गये और मुझे समझाने लगे! अकेले मेरे दुखी होनेसे सबका दुःख मिट गया।'

लोगोंका दुःख मिटानेकी भी कला होती है, जो किसी-किसी सत्पुरुषको आती है।

—पू० स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

(२)

ग्रामीण देव-मानव

एक बार वैशाख मासके मध्याह्नके तापमें अपनी बैलगाड़ी लेकर मैं खेतसे आ रहा था। मेरे खेतमें काम करनेके लिये समीपके गाँव बखतपुरके आठ-दस मजदूर रक्खे हुए थे। वैशाखके तापका तो कहना ही क्या था, आकाशसे जैसे अग्निवर्षा हो रही थी। हमारे पास पीनेका पानी समाप्त हो गया था और सभीको बड़ी प्यास लगी थी। मेरे गाँवमें पहुँचे बिना कहीं भी पानीका मिलना सम्भव न था और यदि मैं बखतपुर लौटता तो और भी दो-तीन मीलका चक्कर पड़ता और बैलोंको भी परेशानी होती।

बीचमें ही दो रास्तोंके मिलनेपर सब मजदूरोंको मैंने बैलगाड़ीसे उतारते हुए कहा—'इस स्थानपर एक प्याऊ होती तो क्या ही अच्छा होता? बटोही लोग पानी पी लेते?'

'भाई!' मजदूरोंमेंसे एक बोला—"यहाँ 'हड़ाला' गाँवके एक सेठ प्रतिवर्ष प्याऊ लगाते थे, न जाने क्यों इसी साल नहीं लगवाया।"

मैंने कहा—'प्याऊके लिये कुछ करना ही चाहिये, इतने भयंकर तापमें बेचारे किसी मुसाफिरका प्राण भी जा सकता है।'

—और सभी मजदूर बैलगाड़ीसे उतरकर अपने गाँवकी ओर चल दिये और मैं अपनी बैलगाड़ीमें अपने गाँवकी दिशाको चला।

मैं सोचने लगा—'इस मार्गमें एक प्याऊ तो अवश्य होनी चाहिये। हड्डाला, बखतपुर और कमालपुर—इन तीनों गाँवोंका यह सीमामार्ग है। बैलगाड़ीमें जानेवाले तो कदाचित् साथमें पानी लेकर भी जा सकते हैं; किंतु सामानको साथमें लेकर चलनेवालोंकी क्या दशा होती होगी?' और बाल-बच्चोंको साथमें लेकर जानेवालोंका क्या होता होगा? अतः आगामी वर्षमें तो इसी स्थानपर प्याऊका प्रबन्ध करना ही होगा। इस ग्रीष्मकालमें तो किसी बेचारेकी जान जानेका भय है।'

खेतका काम पूरा हो जानेके कारण आठ दिनतक तो मैं अपने घरपर ही रहा। उसके बाद खेतपर जाते-जाते मैंने देखा—जिस स्थानपर प्याऊकी आवश्यकता मैं सोच रहा था, ठीक उसी स्थानपर एक छोटी-सी झोंपड़ीमें बैठे हुए एक बालकको दो-तीन ताजे पानीके मटके और पानी पीनेके दो-तीन छोटे डिब्बोंको देखकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। मैंने देखा, बालक कुछ जाना-पहचाना-सा था। मैंने पूछा—'भाई, यह प्याऊ किसने लगवाया?'

सहजभावसे बालकने कहा—"भाईजी! उस दिन आप कह रहे थे न, कि 'यहाँ एक प्याऊ हो तो बड़ा अच्छा है'; उसी समय मैं अपने बापके साथ यहाँ कंडे बटोर रहा था। घरपर जाकर मैंने अपने बापसे कहा—'बापू! हमलोग यहीं प्याऊ लगा दें तो कैसा रहे?'

बापूने यह छोटी-सी झोंपड़ी बना दी? रोज सुबह मेरी माँ, बाप और मैं मिलकर ये तीन मटके पानीके भर लेते हैं। मैं यहीं बैठकर प्यासोंको पानी पिलाता हूँ। शाम होते ही ये छोटे-छोटे डिब्बे यहीं रखकर अपने घर चला जाता हूँ।' मैंने प्रश्न किया—'प्याऊ चलानेके लिये पैसे देनेको तुझे किसने कहा है?'

'नहीं, भाई! यह तो हमलोग अपनी इच्छासे करते हैं। आप भी लीजिये, पानी बहुत ठंडा है।' लड़केने सहजभावसे उत्तर दिया।

मैंने पानी पिया, खूब ठण्डी हुई कलेजेमें। उसे दस पैसे देनेको मैंने हाथ बढ़ाया, तब वह बोला—'ना, भाई! पैसे लेनेको मेरे बापने मुझे मना किया है।' मैंने उसे खूब समझाया, मगर उसने पैसे न लिये।

मैं सोचने लगा, 'छोटे-से इस बालककी कितनी उच्च भावना है?-अन्यके लिये कुछ कर गुजरनेमें इसमें कैसी लगन है?' घरका काम चौपट करके भी औरोंके लिये सुखका मार्ग खोल देनेवाले गरीबलोग भी इस दुनियामें हैं—उस बातका मुझे ज्ञान हुआ। अमीर लोग जो नहीं कर सकते, वह गरीब कर सकता है। सच्चा पुण्य तो मानव-सेवामें ही है।

—जेसंगकुमार भरजिया

(३)

भाग्य, पत्तेकी आड़में

सुरेन्द्रनगर जिलेके सेजकपुर गाँवमें ओघड़ नीमजी नामक एक व्यक्ति रहता था। छोटी-सी दुकान और मामूली-सा घर था उसका। पड़ोसमें एक गौरीशंकर गोर* रहते थे। गाँवमें 'नारायण हरे' की पुकार लगाकर गोर भिक्षा माँग लाते थे। किसीका मुहूर्त निकालकर, किसीका भविष्य देखकर और यजमानवृत्तिसे गौरीशंकर गोर अपनी गृहस्थी चला रहे थे। इधर ओघड़ अपनी दूकानमें चूड़ियाँ, नमक-मिर्च आदि बेचकर कुछ कमा लेता था।

किसीका हक न छीनकर पसीनेकी कमाई खानेवाले जवान ओघड़के आँगनमें एक दिन सवेरे ही गौरीशंकर गोर आये। ओघड़के हाथको देखकर गोरने भविष्यकी बात बताते हुए कहा—"ओघड़! तू एक नहीं, दो-चार लाख-का मालिक बनेगा। तेरे द्वारा अनेकोंके दुःख दूर होंगे। तू मातृभूमि-जन्मभूमि सेजकपुरका सच्चा सेवक बनेगा। तेरी हस्तरेखा तो राजाके समान है।"

—"तो चाचाजी!" प्रसन्न होकर ओघड़ बोला—"जितने लाख रुपये मुझे मिलेंगे, उनमेंसे आधे रुपये आपको दूँगा"।

दस-पंद्रह दिनके बाद ओघड़के मनमें विचार आया—'बम्बई जाकर देखूँ तो, भाग्यमें क्या लिखा है?'—और पत्नीकी चूड़ियाँ बेचकर, शरीरपर जितने कपड़े थे, उन्हींको लेकर वह बम्बईमें आया। प्रथम रात्रि उसने एक लकड़ीके व्यापारीकी दूकानकी बाहरी चौकीपर सोकर काट दी और उसी दिनसे लकड़ीके व्यापारीका व्यापार बढ़ गया। व्यापारीने ओघड़को बुलाकर कहा—"आजसे तुम बाहर-चौकीपर न सोकर दूकानमें ही सोना। आजसे तुम अपनेको हमारे नौकरकी तरह मानना।"

अब तो ओघड़ मुनीम बन गया। सच्ची निष्ठा, निर्दोष स्वभाव और सरलताके द्वारा उसने व्यापारीके हृदयपर अधिकार

* सौराष्ट्रमें कुलगुरुको 'गोर' कहते हैं।

कर लिया। अब वह स्वयं मलबार जाकर लकड़ी खरीदने लगा। इधर उसका व्यापार भी प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। सेठने अगले वर्ष ओघड़को दूकानकी आयका आधा साझेदार बना दिया। अब वह 'ओघड़ नीमजी सेठ' कहलाने लगा। बड़े सेठजी अब वृद्ध हो गये थे, अतः पूरा व्यापार ओघड़को सौंपकर उन्होंने निवृत्ति ले ली।

एक दिन रात्रिमें ओघड़को स्वप्नमें आदेश मिला—"मैं भूमिके नीचे दब रहा हूँ, गाँवके मध्यमें उत्तरकी ओर भूगर्भमें स्थित अपने पुरातन मन्दिरमें मैं रह रहा हूँ। अपने गाँवमें जाकर मुझे बाहर निकालो, मैं हूँ सेजकपुरका ग्राम देवता गणेश !"

गाढ़ निद्रासे जागकर ओघड़ सोचने लगा। उसे स्मरण आया, गौरीशंकर गोरका ज्योतिष और उसे अपने द्वारा दिया हुआ यह वचन कि—"चाचाजी ! मुझे जितने लाख रुपये मिलेंगे, उनमेंसे आधे रुपये मैं आपको दूँगा !" ओघड़के दृष्टिपथमें उसका सारा भूतकाल खड़ा हो गया और वह बम्बईसे सेजकपुर जा पहुँचा। सर्वप्रथम गणपतिके स्वप्नादेशके अनुसार भूमिपूजन करके उसने मन्दिरको बाहर निकाला! धूमधामसे गणपतिकी प्रतिष्ठा-पूजा की गयी। गाँव-भरमें प्रसाद बाँटा गया।

इस तरह 'श्रीगणेशाय नमः' करके अब ओघड़ गोरदादाके वहाँ पहुँचा और उनके चरणमें उसने रुपयोंका ढेर लगा दिया ! और प्रणाम करके वह बोला—"चाचाजी ! लीजिये, यह ओघड़की स्वल्प भेंट। आपको याद होगा, आपने कहा था, 'तू चार-पाँच लाखका मालिक बनेगा' और मैंने कहा था—"तो चाचाजी ! उन रुपयोंमेंसे आधे रुपये मैं आपको दूँगा।"

"भाई ! यह तो तेरे भाग्यका पैसा है और तेरा ही माना जायगा। तेरे द्रव्यमेंसे मुझे एक पाई भी नहीं चाहिये, यह तो तेरे नसीबका है।"

"चाचाजी !" ओघड़ बोला। "अगर आपको नहीं चाहिये, तो मुझे भी नहीं चाहिये; ब्राह्मणको दिया हुआ धन वापस नहीं लिया जाता।"

इधर ब्राह्मणदेव धन लेना अस्वीकार कर रहे थे और ओघड़ भी दिये हुए धनको वापस लेना पाप समझ रहा था। अन्ततोगत्वा पंचोंको बुलाया गया और पंचोंने निर्णय दिया—"इस धनका सदुपयोग किसानोंकी सहायता और लोक-कल्याणमें किया जाय।" सेजकपुरके छोटे-मोटे किसान जमींदारोंके कर्जसे दबे हुए थे, उन्हें ७०-७५ हजार रुपये व्यय करके कर्ज मुक्त किया गया। इस तरह ओघड़की जन्मभूमिके गरीब लोगोंको चिन्तामुक्त करनेके बाद भी उनके बहुत रुपये बचे रहे। उनमेंसे भूखोंको अन्न, खुले अङ्गवालोंको वस्त्र आदिकी सहायता दी गयी। इस तरह अपने धनका सदुपयोग करके ओघड़ सकुटुम्ब बम्बई लौट गया। समयपर उसने देहत्याग किया। आज भी बम्बईके घाटकोपर मोहल्लेमें उसका निवासस्थान 'ओघड़ नीमजी मैन्शन'के नामसे पहचाना जाता है।

—महीपतराम जोशी

(४)

कर्तव्यनिष्ठ पुलिस

कुछ समय पूर्व मेरे चाचाजीको अपने प्रवासमें हुए अनुभवको उन्हींके शब्दोंमें लिख दे रहा हूँ—

"थोड़े दिन पूर्व मैं मोडासासे गोधरा जाती हुई मोटर बसमें सकुटुम्ब सफर कर रहा था। मध्याह्नका समय था और गरमी असह्य थी। गरमी सहन न होनेके कारण मैंने अपना कोट उतारकर सामनेवाली ऊपरकी जगहपर रख दिया। उसकी जेबमें १५० रुपये थे और गोधरा आते ही हमलोग उतर पड़े। वहाँसे स्टेशन पहुँचकर हमें उसी दिन कोटा जाना था। जल्दीसे टिकट कटा ली, अब गाड़ी आने-भरकी देर थी। उसी समय मुझे याद आया कि 'कोट तो मोटरबसमें ही रह गया था। शीघ्रता, गरमी और लोगोंकी भीड़में मैं उसे उतारना ही भूल गया था। अब वह कोट मिलेगा या नहीं ? १५० रुपये जो उसमें थे, उनका अब क्या होगा ?'

"इसी चिन्ताने मेरे मनको घेर लिया। इतनेमें ही मेरे साथ बसमें बैठकर आया हुआ एक पुलिसमैन वहाँ आ पहुँचा। उसे पहचानकर मैंने अपनी चिन्ताका कारण बतलाया। पुलिसमैनने मुझे धीरज देकर कहा—'घबराइये मत, अपने पुत्रको आप मेरे साथ भेजिये; आपका कोट लेकर मैं शीघ्र लौट आऊगा।'

—और ताँगा करके वह शीघ्र ही बस-स्टैण्डपर पहुँचा और कण्डेक्टरसे उसने पूछा—'बसमें एक कोट रह गया है, मिला है तुम्हें ?'

'नहीं' कण्डेक्टरने कहा—"साहब, मुझे पता नहीं है; बस आकर ज्यों ही खड़ी हुई कि मैं आफिसमें चला गया था'।

—तो भी पुलिसमैनने हिम्मत नहीं छोड़ी। उसने वहीं खड़ी हुई खाली बसमें जाकर देखा तो कोट वहीं पड़ा था, जहाँ मैंने स्वयं उसे रखा था। पुलिसमैनने रुपये भी गिन लिये

और कण्डेक्टरको ऐसी बेपरवाही भविष्यमें न करनेको कहा। ताँगा करके दोनों वापस आ गये। मेरे पुत्रके हाथमें कोट देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और पुलिसको धन्यवाद देकर मैंने दस रुपयेका नोट उसके हाथमें रख दिया।

"पुलिसमैनने ताँगेका किराया काटकर शेष पैसे मेरे हाथमें देते हुए कहा—'भाई! मैंने तो अपना कर्तव्यपालन किया है, ताँगेके किरायेके सिवा अन्य कुछ भी नहीं लूँगा।'"

आज जब कि पुलिसवाले हरामीके रूपमें पहचाने जाते हैं, वहाँ इस पुलिसमैनकी कर्तव्यनिष्ठा, निर्लोभता एवं रिश्वत या इनामतक न लेनेकी वृत्ति देखकर मैंने उसकी मानसिक वन्दना की।

—अमृतलाल रामजीभाई पटेल

(५)

गन्ध फैलती है

आजसे लगभग ३०-३२ वर्ष पहलेका यह प्रसङ्ग है, परंतु आज भी मुझे यह ताजा लगता है। उस समय हम लोग कराँचीमें रहते थे और हमारी ननिहाल मोरवीमें थी। हर बड़ी छुट्टीमें हमलोग वहाँ जाते। उस बार भी गये। तीन दिनका रास्ता था। बालकपनके बेजवाबदार, निर्दोष जीवनके बीच इतनी लम्बी यात्रामें हमलोगोंको खूब आनन्द आता।

हम मोरवीसे वापस कराँची जा रहे थे। हम चार-पाँच भाई-बहिन और हमारी माँ थी। शामको ७ बजे ट्रेन खुली। तीसरे दिन शामको उसे कराँची पहुँचना था।

दूसरे दिन सबेरे महेसाना स्टेशन आया और हमारा डिब्बा कटनेको था। फलतः ३ घंटे स्टेशनपर पड़े रहना था। उस जगह हमारी जातिके एक स्नेही सज्जन रहते थे। उनकी स्थिति अच्छी थी। पत्नी एवं बालकोंके अतिरिक्त भंडारी एवं नौकर-चाकरोंसे घर भरा था। उनको हमारे मोरवीसे प्रस्थान करनेकी सूचना मिली, फलतः वे स्टेशनपर आ गये। हमको अपने घर चलनेका आग्रह किया और बोले—"रसोई तैयार है, समय पर्याप्त है। अतः सब लोग घर चलो और नहा-धोकर, खा-पीकर मजेमें स्टेशन पहुँच सकोगे।"

हमलोग गये। मकान बड़ा था। ऊपर नहाने-धोने और नीचे भोजनकी व्यवस्था थी।

ऊपर सब लोग बारी-बारीसे नहाये-धोये और नीचे आमरस एवं पूड़ीका भोजन किया और फिर वापस स्टेशन चले आये।

हम दोनों बहिनोंने और माँने गहने पहन रखे थे। माँके दोनों हाथोंमें पोंहचियाँ थीं और दोनों बाँहोंपर एक हाथमें कड़ा और एक हाथमें पट्टा पहन रखा था। मेहसानेसे रवाना हुए, उसके दूसरे दिन मेरी माँको अचानक ध्यान आया कि एक बाँहपर तो कड़ा है, किंतु दूसरे बाँहका पट्टा गायब है।

पट्टा कब गिरा, कैसे गिरा—यह सोचनेपर भी कुछ पता नहीं चला। फिर गिरा कैसे? याद करके सोचा गया कि पट्टा अन्तिम बार कहाँ था। विचार करनेपर याद आयी कि पिछले दिन स्नानके मध्यमें हाथमें साबुन लगाते समय वह निकलकर गिरने लगा था, अतः उसे उतारकर बगलमें रख दिया गया था। वह अनुमानतः चार-साढ़ेचार तोलेका था। नहाकर वापस पहन लेनेकी बात सोची थी; परंतु माँ जल्दीमें उसको पहनना भूल गयी। अब क्या हो? उन स्नेही सज्जनकी नेकनीयतीके विषयमें तो दो मत थे नहीं, किंतु नौकरोंका घर था। यदि वह आभूषण किसी नौकरके हाथ पड़ गया तो मिलनेकी आशा नहीं की जा सकती थी।

डाकसे खबर देना अथवा तारसे पूछना कराँची पहुँचनेपर ही सम्भव था। ईश्वरपर भरोसा रखकर कि 'सच्ची कमाईकी चीज कहीं जायेगी नहीं', हमलोग शान्त थे। पर माँके मनमें तो चिन्ता हो ही रही थी।

शामको कराँची पहुँचे। पिताजी स्टेशनपर आये थे। माँने उनसे सारी बात कही और आश्चर्यकी बात कि दूसरे ही दिन बिना हमारी किसी तार-चिट्ठीके हमारे उस प्रेमीका संवाद मिला कि "पट्टा यहीं रह गया था। हमने उसको सँभालकर रख दिया है और किसी योग्य आदमीके साथ भेज देंगे। चिन्ता मत करना।"

कुछ समय बीतनेके बाद हमारी जान-पहचानकी एक बहिन मेहसानासे आ रही थी। उसके साथ हमारे उन स्वजनने पट्टा हमारे पास सही-सलामत पहुँचा दिया।

आज वे प्रेमी मौजूद नहीं हैं, परंतु उनकी सज्जनताकी सुवास अबतक फैल रही है। 'अखण्ड आनन्द'

—उर्मिला डी० मांकड़

नयी पुस्तक ! प्रकाशित हो गयी !!

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०२, सुन्दर तिरंगे चित्र १२, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ९.००, डाकखर्च २.२५, कुल लागत ११.२५।

परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अत्यन्त निकटस्थ एक 'साधु' ने आजसे लगभग पचीस वर्ष पहले उनके प्रेमपूर्ण अनुरोधपर भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका एक छोटा-सा शब्दचित्र प्रतिमास 'कल्याण'में देनेके लिये प्रस्तुत कर देना स्वीकार किया था और यह क्रम कई वर्षोंतक अनवरतरूपसे चलता रहा। वे शब्द-चित्र 'श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन' शीर्षकसे धारावाहिकरूपसे 'कल्याण'में छपते रहे। 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको वे इतने पसंद आये कि तबसे अबतक इनको पुस्तकाकारमें प्रकाशित करनेका आग्रह बना ही रहा। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अब यह सुयोग प्राप्त हुआ है कि उन शब्द-चित्रोंको ग्रन्थका रूप दिया गया है।

इस ग्रन्थमें लीलाओंका क्रम श्रीमद्भागवतके अनुसार रखा गया है और भगवान्के जन्मसे लेकर उनकी बाललीलाओं एवं पौगण्ड लीलाओंका ही वर्णन इसमें है। आशा है, पाठकोंको इस ग्रन्थके अध्ययनसे श्रीकृष्णकी दिव्य मनोहारिणी लीलाओंका अनुशीलन करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नये ग्राहक शीघ्रता करें

इस वर्षके विशेषाङ्क "अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क" की विद्वानों तथा विचारशील पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसमें भक्तिभावका हृदयमें संचार करनेवाली इतनी उपयोगी सामग्री दी गयी है कि उसको पढ़ना आरम्भ करनेपर जल्दी छोड़नेका मन नहीं होता। इसकी उपादेयता इस तथ्यसे प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है कि इसकी अबतक एक लाख साठ हजार प्रतियाँ बिक चुकी हैं। लगभग पंद्रह हजार नये ग्राहकोंको यह विशेषाङ्क और सुलभ हो सके, ऐसी व्यवस्था है। जिन प्रेमी महानुभावोंको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत १०.०० दस रुपये मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेका हमें आदेश दें। सजिल्द विशेषाङ्कका मूल्य ११.५० है।

इसी प्रकार इसका प्रचार चाहनेवाले जो सज्जन नये ग्राहक बनानेका प्रयत्न करते हैं या प्रचारार्थ संस्थाओंमें वितरण करना चाहते हैं, वे भी शीघ्रता करें। इन पंद्रह हजार अङ्कोंके बिक जानेपर इसकी पुनः छपनेकी सम्भावना नहीं है। देरी कर देनेसे अङ्क समाप्त हो जानेपर 'नये ग्राहक' बनने और बनानेवाले सज्जनोंको निराश ही होना पड़ेगा। व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर

आवश्यक सूचना

विभिन्न स्थानोंसे हमें हालमें सूचना मिली है कि प्रो० स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती नामके कोई सज्जन, जो अपनेको 'मानव-सेवा हिंदू-प्रचारकेन्द्र'के संस्थापक, अध्यक्ष एवं संचालक घोषित करते हैं तथा 'आधुनिक विवेकानन्द'के नामसे अपना प्रचार करते हैं, 'कल्याण'के आदि सम्पादक नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका एक पत्र प्रकाशित कर बँटवा रहे हैं, जिसमें उनके कार्यकी प्रशंसा की गयी है, तथा श्रीपोद्दारजीके उस पत्रका उपयोग करके पैसे एकत्र कर रहे हैं। हमें पता नहीं वे सज्जन कैसे हैं और इस प्रकार एकत्रित किये हुए पैसोंका कितने अंशमें सदुपयोग कर रहे हैं। हम इस विज्ञप्तिके द्वारा 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंको सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे जाँच-परखकर अपनी जिम्मेवारीपर उक्त सज्जनको आर्थिक सहायता प्रदान करें, श्रीपोद्दारजीके पत्रसे प्रभावित सर्वथा न हों; क्योंकि हम निश्चितरूपसे नहीं कह सकते कि श्रीपोद्दारजीके जिस पत्रको छपवाकर वे सज्जन वितीर्ण कर रहे हैं, वह वास्तवमें उसी रूपमें उन्होंने इनको दिया था; कारण उस पत्रकी कोई प्रतिलिपि कार्यालयमें हमें नहीं मिली, जिससे हम बातकी जाँच की जा सके। —सम्पादक 'कल्याण'

कामवृक्षसे अनुराग कैसा ?

हृदि काममयश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।
अज्ञानरूढमूलस्तु विधित्सापरिषेचनः ॥
रोषलोभमहास्कन्धः पुरा दुष्कृतसारवान् ।
आयासविटपस्तीव्रशोकपुष्पो भयाङ्कुरः ॥
नानासंकल्पपत्राढ्यः प्रमादात् परिवर्धितः ।
महतीभिः पिपासाभिः समन्तात्परिवेष्टितः ॥
संरोहत्यकृतप्रज्ञे पादपः कामसम्भवः ।
नैव रोहति तत्त्वज्ञे रूढो वा छिद्यते पुनः ॥
कृच्छ्रोपायेष्वनित्येषु निस्सारेषु फलेषु च ।
दुःखादिषु दुरन्तेषु कामयोगेषु का रतिः ॥

(महाभारत, अनुशा० १४५ अ० दाक्षिणात्यप्रति)

एक काममय वृक्ष है, जो मोहसंचयरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है । वह काममय विचित्र वृक्ष हृदयदेशमें ही स्थित है । अज्ञान ही उसकी मजबूत जड़ है । सकाम कर्म करनेकी इच्छा ही उसे सींचना है । रोष और लोभ ही उसके विशाल (जुड़े हुए) तने हैं । पाप ही उसका सार-भाग है । आयास-प्रयास ही उसकी शाखाएँ हैं । तीव्र शोक पुष्प है, भय अङ्कुर है । अनेक संकल्प उसके पत्ते हैं । यह प्रमादसे बढ़ा है । बड़ी भारी पिपासा या तृष्णा ही लता बनकर उस कामवृक्षसे चारों ओर लिपटी है । अज्ञानी मनुष्यमें ही यह काममय वृक्ष उत्पन्न होता और बढ़ता है । तत्त्वज्ञ पुरुषमें यह अङ्कुरित ही नहीं होता; यदि हुआ भी तो कट जाता है । यह कामवृक्ष कठिन उपायोंसे नष्ट किया जा[illegible]ता है, अनित्य है । इसके फल निस्सार हैं, इसका आदि और अन्त भी दुःखमय है । इससे सम्बन्ध जोड़नेमें क्या अनुराग हो सकता है ?